समाज का मनोविज्ञान

गिन्सबर्ग

समाज का मनोविज्ञान

समाज का मनोविज्ञान

मॉरिस गिन्सबर्ग, डी० लिट्०
लन्दन विश्वविद्यालय

अनुवादक
गोवर्धन भट्ट, एम० ए०, पी-एच० डी०

लखनऊ
दि अपर इंडिया पब्लिशिंग हाउस, लिमिटेड
१९५७

अनुवादक का प्राक्कथन

समाज-मनोविज्ञान हमारे विश्वविद्यालयो में एक पाठ्य विषय है। इसका उन लोगो के लिए जो सामाजिक और राजनीतिक समस्याओ को सुलझाने और समझने मे लगे हुए है, जो महत्त्व है वह किसी से छिपा हुआ नही है। समाज-मनोविज्ञान के ऊपर अनेक अच्छे-अच्छे ग्रन्थ लिखे गये है। मॉरिस गिन्सबर्ग-कृत 'साइकॉलोजी ऑफ सोसाइटी' समाज मनोविज्ञान के परिचयात्मक ग्रन्थो मे अपना विशेष स्थान बना चुका है। यही कारण है कि लगभग ३६ वर्ष पूर्व लिखा हुआ यह ग्रन्थ अभी तक विश्वविद्यालयो के पाठ्य-क्रम मे निर्धारित है। सक्षिप्त, रोचक, स्पष्ट और सुबोध शैली इसकी विशेषता है। ऐसे ग्रन्थ का हिन्दी मे उपलब्ध होना आवश्यक था। प्रस्तुत अनुवाद इसी आवश्यकता को ध्यान मे रख कर किया गया है। इस बात की काफी सावधानी रखी गई है कि मूल ग्रन्थ की विशेषता अनुवाद मे सुरक्षित रहे।

इलाहाबाद
३०. ९. ५७

—अनुवादक

विषय-सूची

भूमिका

सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का स्वरूप ही ऐसा है कि उन पर जो भी सोच-विचार किया जायगा उसका आधार हमेशा मनोवैज्ञानिक होगा, चाहे जान-बूझकर ऐसा हो, चाहे बग़ैर जाने। हमारा ताल्लुक चाहे, आदमी व्यवहार के विभिन्न क्षेत्रोमें वस्तुतः जो कुछ करते है उसके, वर्णन या विश्लेषण से हो, चाहे उन आदर्शो या सिद्धान्तो की समस्या से जिनका अनुसरण आदमी को करना **चाहिये**, हर हालत में आदमी की सम्भावनाओं का, उसकी जन्मजात और अर्जित शक्तियों का, जीवन और व्यवहार को प्रेरणा देनेवाली शक्तियो का ज्ञान निश्चय ही सबसे ज्यादा महत्त्व रखता है। और हम सचमुच यह देखते भी है कि राजनीति, अर्थशास्त्र, नीति-विज्ञान इत्यादि के लेखक, जिन्हे "मानव-स्वभाव के नियम" कहा जाता है उनके बारे में, कुछ मान्यताओं को लेकर चलते है। इस बात के दृष्टान्त के रूपमे हम देखते है कि हॉब्स (Hobbes) का राजनीतिक सिद्धान्त इस मान्यता के ऊपर खड़ा है कि आदमी के व्यवहार की मूल प्रेरक स्वार्थ-पूर्ण प्रवृत्तियां होती है और कि आज्ञा-पालन का आधार हमेशा भय होता है, जबकि सर हेन्री मेन (Sir Henry Maine) सरीखे लेखक इसका आधार आदत को मानते हैं तथा कुछ अन्य लेखक विवेकपूर्ण सम्मति को। राजनीति और नीति-विज्ञान में उपयोगिता-

वादियों (utilitarians) का जो सम्प्रदाय था वह भी कुछ मनोवैज्ञानिक मान्यताओ पर खड़ा था, हालाकि उस सम्प्रदाय के अनुयायियों ने इन सभी मान्यताओ को बराबर मात्रा में नही समझा था। ये मान्यताएं ये थी—कि आदमी हमेशा अपने सामने कोई लक्ष्य रखता है और उसको पाने के लिए जान-बूझकर काम करता है; कि कार्य का एकमात्र प्रेरक सुख की प्राप्ति और दुःख से छुटकारा होता है और, कि सन्तोष सुखो के योग के बराबर है। लैसे-फ़ैर (Laissez-faire) सम्प्रदाय (इसके अनुसार सरकार को आदमी के काम मे, खासतौर से व्यापार के सम्बन्ध मे, हस्तक्षेप नही करना चाहिए) के अर्थ-शास्त्र के मूल में भी ये या इनकी तरह की मनोवैज्ञानिक मान्यताएं है। सामाजिक मामलों पर आम लोगो के जो विचार होते है उनमें भी सबसे ज्यादा उल्लेख उन बातो का होता है जिन्हें मानव-स्वभाव के नियम माना जाता है। प्राय. कहा जाता है कि जैसा आदमी का स्वभाव है उससे लड़ाइयो का होना अनिवार्य है। कुछ और लोगों का ख्याल है कि जब तक आदमी का स्वभाव नही बदलेगा, समाजवाद विल्कुल अव्यवहार्य वना रहेगा और उद्योग-धन्धों में उन्नति करने का एकमात्र तरीका खुली प्रतियोगिता का रहेगा। इस प्रसग मे, आम लोगो का एक सबसे ज्यादा रूढ विश्वास यह है कि आदमी का स्वभाव नही बदल सकता, और इसको हमेशा किसी भी नये प्रस्ताव के खिलाफ एक दलील के तौर पर पेश किया जाता है। लोग सोचते होगे कि हमको वाकई आदमी के स्वभाव और व्यवहार का विज्ञान मालूम है और इसकी मददसे हम निश्चयात्मक रूप मे कह सकते है कि आदमी कोशिश करके क्या कर सकता है और क्या नही कर सकता। लेकिन सच्ची बात यह है कि इस तरह का विज्ञान अभी अपने शैशवकाल में है और निरीक्षण की

मदद से थोड़े से सामान्य नियम मालूम करने की अवस्था से मुश्किल से ही आगे बढ़ा है।

इसके बावजूद कि राजनीतिक और सामाजिक मामलों में काम करनेवाले मनोवैज्ञानिक कारणों के ज्ञान का कितना महत्त्व है, मनो-वैज्ञानिक सिद्धान्तो का समाज-शास्त्र में जान-बूझकर उपयोग अथवा एक सामाजिक मनोविज्ञान के निर्माण का प्रयत्न थोड़े दिन पहिले ही शुरू हुआ है। हम कह सकते है कि यह आन्दोलन उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध मे शुरू हुआ और बहुत ही ज्यादा जटिल है। यहां पर उन विभिन्न तत्त्वो को एक-दूसरे से अलग करने की कोशिश नही की जा सकती जिन्होने मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिए अनुकूल वातावरण तैयार करने मे मदद पहुचाई है; फिर भी नीचे लिखी बाते ध्यान देने योग्य है :

१. सबसे पहिले, हेगल (Hegel) के दर्शन से और एक नये तरीके से कॉम्ट (Comte) के ग्रन्थों से भी मानव-जाति के बारे मे यह धारणा बनी कि वह एक आध्यात्मिक तत्व की अभिव्यक्ति है और हेगल ने यह धारणा बनाई कि लोक-आत्मा (फोल्क्स् गॉइस्त, Volksgeist) परमात्मा से उत्पन्न या उसका मूर्त्त रूप है। लेकिन राष्ट्रीय मन या आत्मा की इस धारणा की मनोवैज्ञानिक छानबीन नही की गई, बल्कि यह एक विशुद्ध दार्शनिक धारणा बनी रही, हालाकि हेगल के ग्रन्थो मे मनोवैज्ञानिक रुचि काफी मात्रा मे दिखाई देती है। हेगल की चलाई हुई विचारधारा का काफी महत्त्व है, इस वजह से कि यह राष्ट्र की एक काल्पनिक और रहस्यमय धारणा के अनुकूल थी और उसको इसने बहुत प्रेरणा भी दी; और इस धारणा का प्रभाव विभिन्न दिशाओ मे, साहित्य और कला के क्षेत्र मे, और साथ ही कानून और भाषा, पुराण

और प्रथा की व्याख्या में देखा जा सकता है। इसका एक उदाहरण साविन्यी (Savigny) द्वारा स्थापित कानून का तथाकथित ऐतिहासिक सम्प्रदाय (Historical School of Jurisprudence) है, जिसके ऊपर हेगल की धारणाओं का प्रभाव स्पष्ट है, क्योंकि इसके अनुसार कानून चेतन बुद्धि और कृति (इच्छा) की उपज नही है, बल्कि एक स्वाभाविक विकास अथवा राष्ट्र की आत्मा का प्रकाशन है। लेकिन राष्ट्रीय आत्मा की यह धारणा बहुत ही अस्पष्ट रही है, और यह नही कहा जा सकता कि क़ानून के इतिहास के क्षेत्र मे इससे कोई परिणाम पैदा हुए है।

लजारू (Lazarus) और स्टीन्थाल (Steinthal) का काम हेगल से असम्बन्धित नही था। इन दोनों को आमतौर पर सामाजिक मनोविज्ञान के सस्थापक कहा जाता है और इन्होने १८६० में लोक मनोविज्ञान और भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए एक पत्र निकाला जिसमे एक बहुत विस्तृत प्रोग्राम निश्चित किया गया। सामाजिक मनोविज्ञान के बारे मे इनकी जो धारणा थी वह बहुत ही रोचक है और उसकी मुख्य बातें डा० मैकडूगल की धारणा से भिन्न नही है। लजारू (Lazarus) कहता है कि "लोक-मनोविज्ञान का कार्य उन नियमों को ढूँढ़ना है जो बहुत-सारे लोगों के एक साथ रहने और इकट्ठे काम करने मे काम करते है।" भाषा, कला, धर्म और व्यवहार मे लोगों का जो सामूहिक जीवन प्रतिबिम्बित होता है उसका वैज्ञानिक वर्णन करना लोक-मनोविज्ञान का कार्य है, और इसका सबसे बड़ा कार्य है, राष्ट्रों के मन मे जो तब्दीलियां होती है, उनका जो विकास और ह्रास होता है, उसका अध्ययन करना। इसकी विधि पूरी तरह से अनुभव-मूलक (empirical) मानी गई, अर्थात् यह निश्चित हुआ कि यह प्रत्यक्ष

निरीक्षण से प्राप्त तथ्यों तथा नृजाति-विज्ञान (ethnology) और मानव-जीवन के अन्य विज्ञानों से प्राप्त तथ्यों की परीक्षा करते हुए चलेगा। लोक-मनोविज्ञान के दो भाग किये गये, एक भाग सभी समूहों या राष्ट्रों मे समान रूप से पाये जानेवाले तथ्योके पोछे रहनेवाले सामान्य नियमों के अध्ययन के लिए, और दूसरा जिसे उन्होंने मनोवैज्ञानिक नृजाति-शास्त्र (Psychological Ethnology) कहा, राष्ट्रों और समूहों की मनोवैज्ञानिक विशेपताओं के अध्ययन के लिए। (इसके साथ मैकडूगल के नीचे लिखे कथन का मुक़ाबला किया जा सकता है: "समूह-मनोविज्ञान के खास दो भाग हैं, एक सामूहिक जीवन के सबसे अधिक सामान्य नियमों की खोज से ताल्लुक रखनेवाला और दूसरा वह जो इन नियमों को सामूहिक जीवन के विशेष प्रकारों और दृष्टान्तो के अध्ययन मे लागू करता है।*") लज़ारु (Lazarus) और स्टीन्थाल (Steinthal) के काम के महत्त्व का मूल्याकन करना मुश्किल है। सामाजिक मन के स्वरूप के बारे मे उनके जो अरुचिकारक वर्णन है (जिनमें वे दो मौलिक विरोध रखनेवाले सिद्धान्तों, यानी हर्बार्ट का मनोविज्ञान और हेगल का दर्शन, में समझौता करने की कठिनाई के शिकार मालूम पड़ते है) उनको छोड़कर, उनकी वास्तविक देन सामाजिक मनोविज्ञान के बजाय विस्तृत भाषा-विज्ञान के क्षेत्र मे है। जो कुछ भी हो, किसी ज्ञात प्रभाव का उनको श्रेय देना मुश्किल है।

विल्हेल्म वुन्ट (Wilhelm Wundt), जिसे जर्मनी में सामाजिक मनोविज्ञान का सबसे बड़ा प्रतिनिधि माना जाता है, के बहुत ही महत्त्वपूर्ण काम का भी उल्लेख किया जा सकता है। उसके अनुसार सामाजिक मनो-

---

* The Group Mind", पृ० ६।

विज्ञान का ताल्लुक सम्प्रदायों की इस तरह की मानसिक उपजों के अध्ययन से है जैसे भाषा, पौराणिक विचार और प्रथाएं है। इस प्रकार उसके मत से सामाजिक मनोविज्ञान सामान्य मनोविज्ञान का एक आवश्यक अंग है, अथवा उसके अध्ययन की एक विधि कहना ज्यादा अच्छा है, जो अधिक जटिल मानसिक प्रक्रियाओं को समझने में हमारी मदद करने के लिए बनाई गई है। इसलिए लोक-मनोविज्ञान (Volker psychologie) पर उसके जो मोटे-मोटे ग्रन्थ है वे इस दृष्टिकोण से भाषा, पुराण, प्रथा, कानून और सामाजिक संगठन के अध्ययन पर लिखे गये है। बाद के एक सक्षिप्त ग्रन्थ में उसने मानव-विकास के और जिन अवस्थाओं में से यह विकास गुजरा होगा उनके बारे में एक सामजस्य-पूर्ण दृष्टिकोण देने की भी कोशिश की है।*

२. अब तक जिस कार्य के बारे में कहा गया है वह अधिकांश मे लजारू (Lazarus) और स्टीन्थाल (Steinthal) के प्रोग्राम के पहिले हिस्से में आता है। लेकिन जिसको विभेदमूलक (differential) सामाजिक मनोविज्ञान कहा जा सकता है और जो अलग-अलग जातियो और राष्ट्रों में पाई जानेवाली मानसिक विलक्षणताओ से ताल्लुक रखता है, उस पर भी विशाल साहित्य पाया जाता है। उन्नीसवी शताब्दी मे राष्ट्रीय आत्म-चेतना का जो उल्लेखनीय रूप से विकास हुआ उससे इस साहित्य को बहुत प्रेरणा प्राप्त हुई। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, १८७० की लड़ाई से और जर्मनों की विजय का कारण मालूम करनेकी इच्छा से पाटेर डिडौ (Pater Didon) को

---

* इस बादवाले ग्रन्थ के संक्षिप्त वर्णन के लिए "Hibbert Journal", 1916-17, पृ० ३३७ पर लेखक का लेख देखिये।

लेजालेमां (Les Allemands, पेरिस, १८८४) नामक ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा मिली। जर्मन लोगों के मुक़ाबले में लैटिन (Latin) लोगों के ह्रास की वार-वार की जानेवाली भविष्यवाणियों ने फ्यूल्ले (Fouillée) को सिकोलॉजी डु प्यूप्ल फ्रांसे (Psychologie du peuple francais, पेरिस, १८९८) लिखने की बहुत कुछ प्रेरणा दी। इस वर्ग मे फ्यूल्ले (Fouillée) का बाद का ग्रन्थ एस्क्वीस सिकोलोजीक डे प्यूप्ल युरोपेनी (Esquisse psychologique des peuples européenis); लुर्वा ब्यूल्यू (Leroy-Beaulieu) का लापार डेसार एडे रुयूसे' (L' Empire des Tsars et des Russes, १८८९); ह्यूगो म्युन्स्टेरबेर्ग (Hugo Münsterberg) का "The Americans"; बूटोमी (Boutomy) का एसे ड्यूं सिकोलोजी पोलिटीक डु प्यूप्ल आंग्लेज़ (Essai d'une psychologie politique du peuple anglais au XIXme siécle); मसारिक (Masaryk) का रशा एंड योरोप (Russia and Europe); तथा और भी कई ग्रन्थ आते है। गोबिन्यू (Gobineau) और चैम्बरलेन (Chamberlain) जैसे लेखकों ने जातीय मनोविज्ञान (race psychology) लिखने की जिन कोशिशों को प्रेरणा दी उनका भी यहा उल्लेख किया जा सकता है।

इस वर्ग में आनेवाले ग्रन्थों में बहुत से ऐसे है जिनकी लोक-मनोविज्ञान की समझ बहुत उल्लेखनीय है लेकिन उनको सही रूप मे विज्ञान कह सकना सन्दिग्ध है। उनमें आसान सामान्योक्तिया (generalizations) भरी पड़ी है, जो साधारण अनुभव और अस्पष्ट मान्यताओं पर आधारित हैं। उन सबकी दिक्क़तें इस वजह से

है कि अभी तक हमारे पास चरित्र का एक ठीक-ठीक विज्ञान नही हुआ और अकन और निरीक्षण की सबकी स्वीकृत विधिया नहीं है। इस तरह की सामान्योक्तियों की कीमत बहुत थोड़ी है, जैसी ये है कि "ये लोग सूक्ष्म विचारो के अभ्यस्त है और ये लोग ठोस अनुभव के आधार पर चिचार बनाते है," कि "ये लोग सन्देहशील और आलोचनात्मक रुख रखनेवाले है और ये लोग किसी भी अन्ध-विश्वास को मानने के लिए तैयार रहते है"। खास तौर से समूहार्थक शब्दो के इस्तेमाल से और इस मान्यता से कि एक जातीय या राष्ट्रीय मनका अस्तित्व होता है जो हमेशा बना रहता है और जो कुछ किसी जाति या राष्ट्र में घटित होता है उसके लिए जिम्मेदार है, बहुत उलझन पैदा हुई है। इसका नतीजा है जल्दबाजी में सामान्यीकरण कर देना। सामूहिक मनकी धारणा का भी बहुत आसानी से यही दुष्परिणाम होता है। राष्ट्रीय विशेषताओं के बारे में अलग-अलग निरीक्षको ने जो कथन किये है उनमे से बहुत से परस्पर विरोधी है। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, चैम्बरलेन के अनुसार यहूदियों की सकल्प-शक्ति बहुत ही तगड़ी होती है, जबकि जर्मन लोग अपनी बुद्धि के लिए प्रसिद्ध है; लेकिन लापूज (Lapouge) कहता है कि योरोप का आदमी औसत बुद्धि रखता है जबकि उसकी सकल्प-शक्ति तगडी होती है। राष्ट्रीय विशेषताओं की जो व्याख्याए दी गई है वे भी प्रायः बहुत ही सन्दिग्ध है। यह बात खासतौर से जलवायु की अवस्थाओ के सीधे प्रभाव पर लागू होती है। इस प्रकार लैज़े (Leger) के अनुसार रूस मे स्टेप्पीज (Steppes=दरख्तों से शून्य घासका सूखा मैदान) का प्रभाव एकतत्रीय शासन के अनुकूल है। दुर्भाग्य से लाबां (Laban) के अनुसार इस तरह की अवस्था हगरी के आदमी मे न केवल साहस और

स्पष्टवादिता पैदा करती है बल्कि आजादी का विशेष प्रेम भी। लुर्वा ब्यूल्यू (Leroy-Beaulieu) रूसी लोगो के स्वप्निल स्वभाव का कारण रूस के मैदानों को मानता है, जबकि लाबा हगरी के मैदानों को वहा के आदमी के यथार्थवादी मिजाज का कारण मानता है। इस तरह के अनेक उदाहरण दिये जा सकते है जो यह सिद्ध करते है कि विभेदमूलक लोक-मनोविज्ञान पर लिखी हुई इन किताबों मे से ज्यादातर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जाचने पर कितनी सन्दिग्ध है। इस सम्पूर्ण विषय को सतर्क विश्लेषण, सच्ची समस्याओं का और अधिक स्पष्ट कथन, और अकन और निरीक्षण की एक सबको मान्य विधि की सख्त ज़रूरत है।

३. विकासवाद के सिद्धान्त के विकास से तथा उत्पत्ति-विषयक (genetic) दृष्टिकोण को अधिकाधिक महत्त्व प्राप्त होते जाने से यह असर हुआ कि तुलनात्मक मनोविज्ञान में बहुत महत्त्वपूर्ण काम हुआ और इसका सामाजिक मनोविज्ञान की समस्याओं पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, बाल्डविन (Baldwin) की जनन-विधि (genetic method) "आदमी के सामाजिक स्वभाव पर और जिस सामाजिक संगठन में उसका हिस्सा होता है उस पर भी रोशनी डालने के लिए विकासकी प्रारम्भिक अवस्थाओ मे आदमी का जो मानसिक विकास होता है उसकी छानबीन करती है।"* रॉयस (Royce) का काम और कुछ बातों मे डा० मैकडूगल का काम इसी दृष्टिकोण से हुआ है, और इसमें सन्देह नही है कि इन लोगोंने व्यक्ति और समाज के सच्चे सम्बन्ध के बारे मे तथा व्यक्ति की

* "Social and Ethical Interpretations", पृ० २।

आत्म-चेतना की प्राप्ति मे जो प्रक्रियाएं होती है उनके बारे मे हमारे ज्ञान को स्पष्ट करने मे मदद दी है।

४. तुलनात्मक मनोविज्ञान का विकास और चेतना को छोडकर व्यवहार के अध्ययन पर अधिकाधिक ध्यान अंशतः सामाजिक-मनोविज्ञान मे एक नये सम्प्रदाय के पैदा होने के लिए भी जिम्मेदार है, जो सम्प्रदाय कि सामाजिक जीवनमे पाये जानेवाले सहज-प्रवृत्ति सवेग और अचेतन के तत्वों को प्रकाश मे लाने की कोशिश करता है। इस सम्प्रदाय का आरम्भ बेगहॉट (Bagehot) से माना जा सकता है, जिसने सामाजिक प्रक्रिया में अनुकरण के महत्त्व पर जोर दिया। उसका अनुसरण टार्डे (Tarde) ने किया, जिसने इसके आधार पर एक प्रभावशाली समाजशास्त्रीय सिद्धान्त बनाया और जिसका अनुसरण अमेरिका के समाजशास्त्री रॉस (Ross) ने काफी अशमे किया। लु बों (Le Bon) के लोकप्रिय ग्रन्थोमे भी वही प्रवृत्ति पाई जाती है। प्रो० ग्रैहम वैलैज़ (Graham Wallas) का शुरूका ग्रन्थ ह्यूमन नेचर इन पौलिटिक्स (Human Nature in Politics, 1908) भी तर्क-विरोधी प्रवृत्ति रखता है और सामाजिक जीवन मे इस तरह की प्रक्रियाओं के महत्त्व को दिखाने के लिए लिखा गया था जैसी निर्देश, अनुकरण, आदत, सहज प्रवृत्ति इत्यादि हे, तथा सामान्य अचेतन तत्वों का महत्त्व दिखाने के लिये भी। डा० मैकडूगल का "Introduction to Social Psychology" लगभग तभी प्रकाशित हुआ जब प्रो० वैलैज़ का ग्रन्थ। इस ग्रन्थ ने समाज-विज्ञान के कई क्षेत्रों मे बहुत बड़ा प्रभाव डाला। इसमे मैकडूगल ने यह सिद्धान्त पेश किया कि सहज प्रवृत्तियां मनुष्य-जीवन के "मूल-प्रेरक" हैं और उन मुख्य कारणों का वर्णन किया जो उसके मत

से सारे व्यवहार को निर्धारित करते है। अपने हाल के ग्रन्थ ग्रुप माइन्ड (The Group Mind, 1920) मे डा० मैकडूगल ने व्यवहार के मूल कारणों के बारे मे अपने पुराने मत का उपयोग इस तरह के समूहों के व्यवहार की व्याख्या के लिए किया जैसे ढीले-ढाले तरीके से सगठित भीड, बहुत ऊचे तरीके से सगठित फौज और राष्ट्र-राज्य (nation state) जोकि अब तक के सामूहिक मतो का सबसे श्रेष्ठ रूप है। सारे ग्रन्थ मे सहज-प्रवृत्तियो और भावनाओं पर जोर दिया गया है और कहा है कि "एक विचार अकेले कोई प्रभाव नही डाल सकता"।* फिर भी उसने प्रगति के लिये "बौद्धिक" क्रियाओं के महत्त्व पर भी ज़ोर दिया है, हालाकि कही-कही इसमें सन्देह भी प्रकट किया है।

५. फ्रॉयड (Freud), युग (Jung) और अन्यों के नामों के साथ जो मनश्चिकित्सा-विज्ञान की उल्लेखनीय प्रगति जुड़ी हुई है उससे भी समाज-विज्ञान मे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पैदा हुए और ये सिद्धान्त भी बहुत कुछ उसी दिशा मे जाते है जिसमें वे ग्रन्थ गये हैं जिनका अभी उल्लेख किया गया है। मनोविश्लेषण के निष्कर्षो का इतिहास के कुछ महान् व्यक्तित्वों की व्याख्या में पहिले ही उपयोग किया जा चुका है और इसमें प्रायः उल्लेखनीय सफलता भी प्राप्त हुई है। इसके उदाहरण हैं, फ़ॉयड का लियोनार्डो डा विंची (Leonardo da Vinci) पर किया काम और अमेरिकन लेखकों के द्वारा लूथर और लिंकन के अध्ययन। ऐसी सम्भावना है कि मनोविश्लेषण सामाजिक अशान्ति की कई शक्लों पर और ख़ास तौर से अराजकतावाद और

* "The Group Mind", पृ० १७०।

ऐकान्तिक व्यक्तिवाद के बड़े-बड़े समर्थको के मानसिक इतिहास पर जरूर रोशनी डालेगा [इस प्रसंग में ओरेल कोल्ने (Aurel Kolnai) के हालके ग्रन्थ सीकोआनालीज अन्ड सोजियोलोजी (Psychoanalyse und Soziologie) को देखिये]। राजनीतिक क्रान्तियोसे सम्बन्धित समस्याओं और आर्थिक जीवन और कार्य की समस्या को सुलझाने मे फ्रॉयड का दमन (repression) का प्रत्यय बहुत ही ज्यादा सहायक है। इस प्रसंग मे ऑर्डवे टीड (Ordway Tead) इस्टिक्ट्स् इन इंडस्ट्री (Instincts in Industry) के काम का और प्रो० विलियम ओगबर्न (William Ogburn) के एक अत्यधिक रोचक लेख का उल्लेख किया जा सकता है, जिसमे यह दिखाया गया है कि "किस तरह आर्थिक प्रयोजन स्थानान्तरण (displacement), प्रतीक (symbolism), प्रक्षेपण (projection), क्षतिपूरण (compensation) और यौक्तिकीकरण (rationalization) की अचेतन प्रक्रियाओं के प्रभाव से आम तौर पर वेश बदल देते है" ("American Economic Review", Supplement, March, 1919)। स्वयं फ़ॉयड ने भी मनोविश्लेषण के निष्कर्षों को "टोटेमिजम" (Totemism, किसी जीवित या निर्जीव चीज का किसी क़बीले का प्रतीक होना) और "टैबू" (taboo, कबीलो में प्रचलित निषेध) की व्याख्या मे लागू किया है, और उसके कई अनुयायियों ने नवीन मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से धर्म के मनोविज्ञान का अध्ययन किया है। युग और उसके अनुयायी एक ऐसी विधि का अनुसरण करते प्रतीत हो रहे है जो एक दृष्टि से फ़ॉयड की विधि के ख़िलाफ है। फ़ॉयड व्यक्ति-मनोविज्ञान मे प्राप्त निष्कर्षो को लोक-मनोविज्ञान की समस्याओं को समझाने मे

लागू करने की कोशिश करता है, जबकि युग और उसका सम्प्रदाय लोक-मनोविज्ञान की सामग्री का व्यक्ति-मनोविज्ञान के तथ्यो की व्याख्या मे इस्तेमाल कर रहे है। अभी इतनी जल्दी, इस काम का समाज-शास्त्र के लिए कितना मूल्य है, यह नही बताया जा सकता, मगर इसमें कोई शक नही है कि इसने छानबीन के कई रोचक रास्ते खोल दिये है और कि इससे पहिले ही कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पैदा हो चुके है।*

६. इस प्रकार हाल में किये गये काम की प्रवृत्ति सामाजिक जीवन के अचेतन और सहज-प्रवृत्ति मूलक तत्वों को महत्व देने की है। और कई लेख के आधुनिक मनोविज्ञान के निष्कर्षो के आधार पर सामाजिक समस्यायों की तथाकथित "बुद्धिवादी" या "तर्कवादी" व्याख्या के ऊपर हमला कर चुके है। ये हमले प्रायः तर्क और कृति (will) के स्वरूप के बारे में गलत विचारों पर आधारित है। फिर भी ऐसे लेखकों की कमी नही है जिन्होने सामाजिक संस्थाओं और आन्दोलनों में तर्क और विवेकपूर्ण प्रयोजन का स्थान दिखाने की कोशिश की है। इस प्रकार उदाहरण के लिए प्रो० ग्रैहम वैलेज़ ने अपने ग्रन्थ ग्रेट सोसाइटी (Great Society) में यह दलील दी है कि विचार या तर्क स्वयं एक सच्ची स्वाभाविक प्रवृत्ति है, सहज-प्रवृत्तियो का साधन मात्र या उनकी अधीनता में काम करनेवाला मात्र नही।

प्रो० एल० टी० हॉबहाउस (L. T. Hobhouse) के अनेक

---

* इस सारे विषय पर H. E. Barnes ने "Psychology and History" शीर्षक से "American Journal of Psychology" 1919 में एक रोचक लेख लिखा है।

ग्रन्थों का भी यहा उल्लेख करना जरूरी है। हॉबहाउस ने सहज-प्रवृत्ति और बुद्धि की, तर्क और कृति के स्वरूप की, और सामाजिक विकास में प्रयोजन के अर्थ की एक ऐसी व्याख्या पेश की है जिस पर तर्क-विरोधी सम्प्रदाय के द्वारा उठाई हुई आपत्तियां लागू नही होती।

यह बताने की शायद ही जरूरत हो कि इस छोटी किताब में उन सभी बातो का वर्णन करने की कोशिश नही की जा सकती जिनका हमने इस भूमिका मे सक्षेप में उल्लेख किया है। हम इसमे कुछ आधारभूत समस्याओं का ही विवेचन करेंगे। सबसे पहिले सहज-प्रवृत्ति के स्वरूप और समाज में सहज-प्रवृत्ति के कार्य के स्वरूप का विवेचन किया जायगा। इससे हम थोड़े से उन महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के गुण-दोष बता सकेंगे जिनको हाल मे पेश किया गया है और जो सामाजिक ढाचे और कार्य को सहज-प्रवृत्ति के द्वारा समझाने की कोशिश करते हैं। तब हम कृति और तर्क के स्वरूप का और सहज प्रवृत्तियों और आवेगो से उनके सम्बन्ध का विचार करेंगे।

हम यह दिखाने की आशा करते है कि तर्कवादी और तर्क-विरोधी दोनो ही प्रायः अनुभव और तर्क को एक-दूसरे से पृथक् करने की गलती करते है जो कि बहुत शरारत से भरी और भ्रामक है, और कि यह गलत पृथक्करण ही तर्क या विचार को सामाजिक जीवन में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानने के खिलाफ दी गई कई दलीलो के लिए जिम्मे-दार हैं। इसके बाद सामाजिक मन के स्वरूप-विषयक मतो का आलोचनात्मक वर्णन किया जायगा। बहुत से लोग इस वर्णन को शुष्क और व्यर्थ बतायेंगे, मगर दुर्भाग्य से जो लोग सामूहिक मन के स्वरूप के इन वर्णनो की उपेक्षा करने का दावा करते है वे प्रायः वही है जो सामूहिक मन में अचेतन रूप से पक्का विश्वास करते है, और

ग्रो कम-से-कम अपने सामाजिक मनोविज्ञान में सामाजिक मन की धारणा की सहायता लेते हैं, बगैर यह जाने कि वे ऐसा कर रहे हैं, जिसका नतीजा खास तौर से राजनीति-दर्शन के लिए बहुत ही खतरनाक होता है। इसलिए हमको इस धारणा की आलोचनात्मक परीक्षा करना तथा यह निर्धारित करना लाभप्रद लगा है कि मनोवैज्ञानिक शब्दावली मे इसका कोई समझ में आ सकनेवाला वर्णन दिया जा सकता है या नही। इस विश्लेषण से यह प्रकट हुआ है कि सामाजिक या सामूहिक मन की धारणा समाज-शास्त्र में कोई ज्यादा कीमत नही रखती और कि यह बहुत बड़े खतरोंसे भरी है, खास तौर से सामाजिक दर्शन के क्षेत्र मे, इसलिए ऐसी शब्दावली मे जिसमे सामाजिक मन की धारणा न छिपी हो, उन असली तथ्यों का वर्णन करने की कोशिश की जायगी जो सामाजिक मन की बात करते समय लोगो के दिमाग में होते है। अतः इसके बाद परम्परा और प्रथा के, सामान्य कृति और जन-मन के, सम्प्रदाय, सस्थाओ ओर सघो के, जातीय और राष्ट्रीय विशेषताओ के स्वरूप का वर्णन किया जायगा और उस एकता के स्वरूप का भी जो भीड, जनता इत्यादि विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूहो मे पाई जाती है। आखिरी अध्याय मे सामाजिक मनोविज्ञान के निष्कर्षो का प्रजातत्रीय सगठन की समस्याओ पर जो असर होता है उसका सक्षेप मे वर्णन किया जायगा।

१

सहज-क्रिया की सामान्य प्रकृति

सहज-क्रिया क्या है ? हम देख रहे है कि मूल अंग्रेजी शब्द 'इन्स्टिन्क्ट' (instinct) का प्रयोग अब भी साधारण बोलचाल और साहित्य मे, यहा तक कि मनोविज्ञान की किताबोंमे भी, कुछ ढीले-ढाले अर्थोंमे हो रहा है। लेकिन इस क्षेत्र मे हालमे जो खोजे हुई है उन्होंने एतद्विषयक कुछ गलत धारणाओ को हटाकर इस शब्दके अर्थको बहुत कुछ साफ कर दिया है। अब आम तौर से यह मान लिया गया है कि सहज-क्रियाएं न तो बिल्कुल अपरिवर्तनशील होती है, न एक दम सही और न सदैव जीवन-रक्षा के लिए उपयोगी। आजकल की आम प्रवृत्ति सहज-क्रियाओंको जीव-विज्ञान के दृष्टिकोणसे देखने की है। तदनुसार सहज-क्रियाएं विशेष उत्तेजनाओं (stimuli) की प्रतिक्रिया के वंशानुक्रम-प्राप्त (hereditary) तरीक़े है, जो जीवन के संघर्षमे उपयोगी होने के कारण एक पीढ़ी से दूसरी में संक्रमित होते रहते है। कहा जाता है कि सजीव आद्यरस (protoplasm) मे स्वभावतः जो निरुद्देश्य और आकस्मिक गतियां होती है उनमेंसे कुछ उपयोगी सिद्ध होनेवाली गतिया जाति में स्थिर हो गई है और सन्ततिकी वंश परम्परागत गठन (structure) में उनको एक आधार प्राप्त रहता है। इस

प्रकार 'सहज-क्रिया' शब्द का अर्थ है वे गति-शृंखलाएं जो थोड़ी-बहुत जटिल होती है, जो जाति के लिए उपयोगी कुछ लक्ष्यों की पूर्ति करने वाली होती है, जो जन्मसे ही निश्चित होती है और व्यक्ति के अपने अनुभव से स्वतंत्र होती हैं। यहा तक तो सभी सहमत है, लेकिन अभी तक इस बातके ऊपर मतभेद चल रहा है कि गतियों की इन शृंखलाओं में या इनके साथ कौन-सी मानसिक प्रक्रियाएं होती है? इस बातको स्पष्ट करने के लिए यह जरूरी है कि हम सहज-क्रिया, प्रतिक्षेप-क्रिया (reflex action) और विवेकपूर्ण क्रिया (intelligent action) का सम्बन्ध विस्तार से समझ लें।

कुछ लेखको ने हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) का अनुसरण करते हुए सहज-क्रिया को मिश्र (compound) प्रतिक्षेप-क्रिया माना है। लेकिन, जैसा कि प्रोफ़ेसर लॉयड मॉर्गन (Lloyd Morgan) ने कहा है और जो ठीक भी है, सहज और प्रतिक्षेप क्रियाओ मे आवश्यक और मौलिक भेद है। प्रतिक्षेप-क्रिया शरीर के एक अश की नपी-तुली प्रतिक्रिया होती है, लेकिन सहज व्यवहार समग्र शरीर की प्रतिक्रिया होता है। दोनों की आपसी भिन्नता की दृष्टि से इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता सहज व्यवहार की यह है कि उसका निर्धारण और नियंत्रण किसी ईहा (craving) अथवा आवश्यकता की अनुभूति से होता है; उसके पीछे एक खास मनोदशा (mood) या अनुभूति की तीव्रता रहती है जो तृप्ति चाहती है और तब तक नही मिटती जब तक क्रियाकी पूरी शृखला समाप्त नही हो जाती। इसका मतलब यह हुआ कि सक्रिय होने पर सहज-क्रिया आवेगयुक्त (impulsive) होती है, इसका एक पहलू चेतनायुक्त होता है जिसमे ज्ञान और अनुभूति दोनों शामिल है। निष्कर्ष यह है कि सहज

व्यवहार में होनेवाली गतियां चाहे प्रतिक्षेप क्रियाओंकी एक बड़ी संख्या के अतिरिक्त कुछ न भी हों, लेकिन फिर भी हम उसमे शामिल होने वाले मानसिक व्यापारोसे उसके और विशुद्ध प्रतिक्षेप-क्रिया के अन्तर को बख़ूबी पहिचान सकते है।

इससे भी मुश्किल समस्या जो हमारे सामने है वह है सहज क्रिया और बुद्धि का सम्बन्ध। ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सहज क्रियाओं का एक चेतन पहलू होता है, लेकिन अब प्रश्न यह है कि क्या उनका बुद्धिसे कोई सम्बन्ध है? इस प्रश्नका उत्तर देने मे एक बड़ी कठिनाई इस तथ्य से पैदा होती है कि सहज-क्रिया के "विशुद्ध" उदाहरण ख़ास तौर से उच्च कोटि के प्राणियो मे मुश्किल से मिलते है, जिसका नतीजा यह है कि अनुभव और वंशानुक्रम (heredity) के अशोंको एक-दूसरे से अलग करना कठिन हो जाता है। प्राणियों के व्यवहार मे बदल-बदल कर प्रयत्न करते रहना दिखाई देता है और इसमे कोई सन्देह नही है कि किसी न किसी रूप मे प्राणी अनुभव से सीखते जरूर है। प्रयत्न बदलते हुए किसी लक्ष्य की ओर लगे रहने का गुण प्राणियो के दीर्घकाल तक चलनेवाले सहज व्यवहार मे भी दिखाई देता है, और यह स्पष्ट है कि इस प्रकार इस व्यवहार मे अनुभव से सीखना अवश्य ही शामिल होता होगा। इतने पर भी स्वभाव और कार्य-प्रणाली की दृष्टि से सहज-क्रिया और बुद्धि परस्पर भिन्न है। विशुद्ध सहज-क्रिया अनुभव-निरपेक्ष होती है और प्रायः जन्म के समय परिपक्व अवस्था में रहती है। बुद्धियुक्त क्रिया मे किसी लक्ष्य या प्रयोजन की पहले से जानकारी रहती है, लेकिन यह शायद ही कोई कह सकता है कि कीड़ो की जटिल सहज-क्रियाओं मे भी ऐसा होता है। सहज-क्रिया के कुछ उदाहरणों में जो अत्यधिक जटिलता और अद्भुत्

समायोजनशीलता (Adaptability) प्रकट होती है उससे सिद्ध होता है कि उनकी सप्रयोजनता (purposiveness) केवल दिखावटी है, क्योंकि मनुष्य के अनुभव से तुलना करके देखने पर हम पाते है कि यदि उनके पीछे कोई प्रयोजन होता तो वह गति की एक ही शृंखला में प्रकट न होता तथा प्रयोजनशील प्राणी ऐसी परिस्थिति का सामना होने पर जिसके मुकाबले का सहज तरीका उन्हें उपलब्ध नही है, फ़ेबर (Fabre) के शब्दों मे "abysmal stupidity" अर्थात् वज्र मूर्खता प्रदर्शित न करते होते।

यद्यपि सहज-क्रिया पूरी तरह से वंशानुक्रम-प्राप्त शारीरिक गठन पर निर्भर होती है, तथापि वह यंत्रतुल्य नही होती और यद्यपि वह प्रयोजन से निर्धारित नही होती, तथापि उसे एकदम प्रयोजनहीन कहना भी ठीक नही है। वास्तवमें, जैसा कि प्रोफेसर हॉबहाउस (Hobhouse)* ने साफ-साफ़ प्रमाणित किया है, सहज-क्रियाके क्षेत्र के अन्दर ही बुद्धि विकास करती है और अपने विकास के दौरान मे वह सहज-क्रिया की कठोरता और स्थिरता को घटाकर उसे लचीली बनाती है। विशुद्ध सहज-क्रिया में एक लगातार चलनेवाली प्रवृत्ति क्रिया को कुछ परिणामों की प्राप्ति की दिशा मे चालू रखती है और उसने जो गतिया होती हैं वे सब प्रतिक्षेप अर्थात् सवेदना के तुरन्त बाद हो जानेवाली गतिया होती है। उसमें विभिन्न भूमिकाएं (stages) एक पहले से निर्धारित क्रम मे आती है और किसी भी भूमिका मे किसी विकल्प की गुजाइश नहीं होती, यदि होती भी है तो अत्यन्त सकीर्ण सीमाओं के अन्दर ही। बुद्धि के उदय के साथ बीचके

* "Mind in Evolution" अध्याय ६।

चरण अधिकाधिक उपेक्षित होते जाते है और अन्तिम उद्देश्य ही केवल महत्त्वपूर्ण हो जाता है। शुरू में बुद्धि को केवल अपने निकटतम उद्देश्य की ही जानकारी होती है और यदि साधारण उपाय से उसको प्राप्ति मे सफलता नही होती तो अन्य उपायोंका सहारा लिया जाता है; लेकिन यदि क्रिया शुद्ध रूप से सहज है तो साधारण क्रम मे बाधा उपस्थित होने पर सारी कार्यवाही अस्त-व्यस्त हो जायगी। धीरे-धीरे बुद्धि का दायरा फैलता जाता है, दूरदर्शिता बढ़ती जाती है, उसे अधिकाधिक दूरस्थ लक्ष्यों की जानकारी होती जाती है और अन्त मे वह इस योग्य हो जाती है कि व्यवहार के सम्पूर्ण उद्देश्य को समझ सके। इस अवस्था मे पहुचने पर व्यवहार के उद्देश्यो का निर्धारण वंशानुक्रम के द्वारा हो सकता है, किन्तु उनकी प्राप्ति के साधन परिस्थितिके साथ-साथ बहुत काफ़ी बदलते रहते है तथा उन साधनो का चुनाव प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने अनुभव की रोशनी मे करता है। यदि कोई क्रिया सहज है तो उस हालत में उत्तरोत्तर आगे बढ़नेवाले कदम प्रतिक्रिया के वंशानुक्रम-प्राप्त तरीके होंगे जो केवल एक संकीर्ण सीमाके अन्दर ही बदले जा सकेंगे तथा वे एक आधारभूत अनुभूतिसे प्रेरित होंगे जो बेचैनी या असन्तोप की एक अस्पष्ट अनुभूति को अथवा तृप्ति की इच्छाको उत्पन्न करती है। बुद्धिका विकास समूची कार्यवाहीको अधिक लचीली और समायोजनशील बनाता है और उससे वंशानुक्रम के द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के साधनों को बदलना सम्भव हो जाता है तथा ऐसे तरीक़ों का इस्तेमाल भी सम्भव हो जाता है जो कि विशुद्ध सहज-क्रिया मे होनेवाले व्यवहार के अपरिवर्तनशील और यंत्रतुल्य तरीक़ोसे बहुत दूर है।

ऊपरके कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक सहज-क्रिया

के तीन पहलू होते है: चेष्टात्मक (conative), ज्ञानात्मक (cognitive) और भावात्मक (affective)। उसमे उत्तेजना (stimulus) का ज्ञान होता है, एक अनुभूति का तत्व होता है जिसे आवश्यकता की अनुभूति या ईहा कहा जा सकता है अथवा रुचिकी अनुभूति कहना ठीक रहेगा, गतियों की और उनके साथ होनेवाली गति-सवेदनाओं (Kinaesthetic sensations) की एक शृंखला होती है तथा क्रिया की सफलता के साथ समाप्ति होने से तृप्ति की अनुभूति और उसके असफल होनेसे अतृप्ति या असन्तोष की अनुभूति होती है। प्रोफ़ेसर हॉबहाउस ने यह सिद्ध कर दिया है कि सहज-क्रिया मे जो कुछ भी समायोजन का लचीलापन होता है वह उसमें रहनेवाले रुचि के तत्व की बदौलत होता है। विशुद्ध सहज-क्रिया मे इस हमेशा वर्तमान रहनेवाली रुचि या ईहाके दबाव से कार्यों की जो शृंखला चलती है वह विशुद्ध प्रतिक्षेप की शक्ल की होती है। धीरे-धीरे उसमें परिवर्तन होते है और परिस्थिति के प्रति अनुकूलता पैदा होती है। शुरू-शुरू मे जो कार्य होते है उनमें संवेदना और गति के बीच कोई व्यवधान नही होता, उनमे ज्ञान के नाम पर इन्द्रियों से प्राप्त संस्कारों (impressions) का अस्पष्ट-सा एकीकरण होता है जो कि ज्ञान का एक बिल्कुल प्रारम्भिक और अविकसित रूप है; ये कार्य किसी बदलते रहनेवाली परिस्थिति की आवश्यकताओं से समायोजित होते है। अन्त में हम एक ऐसी हालत मे पहुंचते हैं जहा रुकावटों पर क़ाबू हो जाता है और मुश्किल परिस्थितियों से निबट लिया जाता है और वह भी एक ऐसे तरीक़े से जिसे केवल अनुभव से बुद्धिमत्ता पूर्वक सीखने के आधार पर ही समझा जा सकता है।

डाक्टर मैकडूगल (Mcdougall) ने जो काम किया है उससे

सहज-क्रिया के ज्ञानात्मक और भावात्मक पहलुओ का महत्त्व मालूम होता है। उनके सिद्धान्त का वर्णन सहज-क्रिया का स्वरूप समझनेमे हमारी मदद करेगा। डॉ० मैकडूगल के सहज-क्रिया के सिद्धान्त का आधार मनका ज्ञानात्मक, चेष्टात्मक और भावात्मक प्रवृत्तियो मे विभाजन है जिससे हम खूब परिचित है। वे मानते है कि इन तीन तत्वों का सम्बन्ध स्नायु-मडल (nervous system) के क्रमश बोध-स्नायु (sensory nerves), गति-स्नायु (motor nerves) और केन्द्रीय भागो (central parts) से है। मैकडूगल के अनुसार सहज-क्रिया एक भावात्मक प्रवृत्ति, एक या अधिक ज्ञानात्मक प्रवृत्तियो और एक चेष्टात्मक प्रवृत्तिके मध्य एक जन्मजात सम्बन्ध है। सहज-क्रिया मे इन बातों का समावेश रहता है: एक प्रकार की उत्तेजनाओ का प्रत्यक्ष करना और उन पर ध्यान देना ; उनका प्रत्यक्ष होने पर किसी सवेग (emotion) का अनुभव होना ; तथा किसी निश्चित और पूर्वनियोजित तरीके से काम करनेका आवेग पैदा होना। मैकडूगल के सिद्धान्त मे ये आवश्यक बातें है: (१) प्रत्येक सहज-क्रिया मे उसका साथी एक विशेष गुणवाला सवेगात्मक आवेश होता है, यद्यपि कुछ मामलों मे यह आवेश दूसरे आवेशों से भिन्न नहीं होता ; और (२) जब सक्रिय होनेवाली सहज-क्रिया मुख्य सहज-क्रियाओं मे से एक होती है तब जिस सवेगात्मक आवेश से उसका भावात्मक पहलू बनता है वह उसकी अपनी विशेषता होता है, और उसे "मूल सवेग" (primary emotion) कहा जा सकता है। (३) इनके अतिरिक्त मैकडूगल के मत में यह बात भी शामिल है कि हमारे स्नायु-मंडल के ज्ञान और गति-सम्बन्धी तत्व और फलतः हमारे स्वभाव के ज्ञानात्मक और चेष्टात्मक पहलू बहुत कुछ बदलने की योग्यता रखते है, जबकि केन्द्रीय

भाग और फलत: संवेगात्मक पहलू स्थायी और वंश-परम्परागत होते है तथा मनुष्य और पशुओं में एक समान बने रहते हैं। इसका नतीजा यह है कि मनुष्य के अन्दर सहज-क्रियाओं के ज्ञानात्मक अंश और शारीरिक गतियां अनुभवके दौरान में बहुत ज्यादे बदल कर जटिल बन जाते है, जबकि सवेगात्मक आवेश और उसके साथ होनेवाली स्नायविक क्रिया सभी व्यक्तियों और परिस्थितियों में एक ही बनी रहती है।

डॉ० मैकडुगल ने सहज-क्रियाओं की निम्नलिखित सूची दी है और इनको प्रधान और आधारभूत माना है। प्रत्येक के साथ एक-एक सुस्पष्ट "मूल" संवेग उसके आवश्यक अंग की तरह जुडा है:

पलायन (escape) की सहज-क्रिया और भय (fear) का सवेग ।

विकर्षण (repulsion) की सहज-क्रिया और अरुचि (disgust) का संवेग।

जिज्ञासा (curiosity) की सहज-क्रिया और आश्चर्य (wonder) का संवेग।

युयुत्सा (combat) की सहज-क्रिया और क्रोध (anger) का संवेग।

आत्म-लाघव (submission) की सहज-क्रिया और विनीतता (subjection) का संवेग।

आत्म-गौरव (self-assertion) की सहज-क्रिया (आत्म-प्रदर्शन) और उल्लास (elation) का संवेग।

सन्तति-पालन (parental) की सहज-क्रिया और वात्सल्य (tender) का सवेग।

इन सात सहज-क्रियाओं से जुड़े हुए मूल संवेगों में सब अथवा

क़रीब-करीब सभी सामान्यतया स्वीकृत संवेग आ जाते हैं। इनके अतिरिक्त और भी सहज-क्रियाएं हैं जिनका "संवेगोंकी उत्पत्ति में थोड़ा ही हाथ रहता है," लेकिन सामाजिक जीवन के लिये जिनका अत्यधिक महत्त्व है। इनमें प्रजनन (sex) की सहज-क्रिया, समूह में रहने की सहज-क्रिया, संग्रह करने की सहज-क्रिया, निर्माण की सहज-क्रिया तथा अनेक ऐसी छोटी-मोटी सहज-क्रियाएं भी शामिल हैं जैसी रेंगने और चलने को प्रेरित करनेवाली सहज-क्रियाएं। इनके अतिरिक्त कुछ सामान्य नैसर्गिक प्रवृत्तियां भी होती है, जैसे, सहानुभूति (sympathy) अर्थात् दूसरों के अन्दर किसी अनुभूति या संवेग की अभिव्यक्ति को देखने पर स्वयं अपने अन्दर उसका अनुभव करने की प्रवृत्ति, निर्देश-ग्राहिता (Suggestibility) अर्थात् दूसरोंसे निर्देश (suggestion) ग्रहण करने की प्रवृत्ति, अनुकरण (immitation) की प्रवृत्ति, खेलने की प्रवृत्ति, आदतो का निर्माण करने की प्रवृत्ति।

डा० मैकडूगल का मत यह है कि सभी मानवीय व्यापारों का आधार सहज-क्रिया है। एक अच्छी तरह से विकसित मन के व्यापार भी सहज-क्रियाओं के द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के साधन मात्र हैं, सुख और दुःख की अनुभूतियां केवल सही मार्ग पर चलाने का काम करती है और आदतों का एकमात्र कार्य सहज-क्रियाओं की गुलामी करना है। "अतः हम कह सकते है कि अपरोक्ष या परोक्ष रूप में सहज-क्रियाएं सब मानवीय चेष्टाओं के मूल प्रेरक हैं; किसी सहज-क्रिया (अथवा सहज-क्रिया से उत्पन्न किसी आदत) की प्रेरक शक्ति के द्वारा ही प्रत्येक विचार-शृंखला, चाहे वह ऊपरसे कितनी ही शान्त या संवेगशून्य दिखाई पड़े, अपने लक्ष्य की दिशा में संचालित होती है, तथा प्रत्येक शारीरिक चेष्टा का उत्पन्न होना और जारी रहना भी उसी पर निर्भर होता है।

" इन सहज-क्रियाओं और उनके शक्तिशाली आवेगों को निकाल दीजिये और आप देखेंगे कि शरीर किसी भी प्रकार की चेष्टा करने में असमर्थ हो जायगा; वह वैसे ही जड़ और निश्चल हो जायगा जैसे घड़ी की जटिल मशीन मुख्य 'स्प्रिंग' को निकाल देने पर हो जाती है या जैसा एक भाप का इंजन आग को बुझा देने पर हो जाता है।"*

डा० मैकडूगल ने जिस तरीक़े से अपने सिद्धान्त का विकास किया है वह अत्यन्त आकर्षक है और उनकी योजना में कुछ ऐसी सरलता है कि जिसके कारण उनके अनुयायी भी काफ़ी हुए हैं। फलत: मैकडूगल के सिद्धान्त को अनुसन्धान के कई क्षेत्रों में काम चलाऊ परिकल्पना (working hypothesis) के रूप में स्वीकार किया गया और इससे महत्त्वपूर्ण परिणाम प्राप्त हुए हैं। फिर भी यह सिद्धान्त आलोचना से नही बच सका और इसकी कई मुख्य बातों की खिलाफ़त हुई। इस प्रसंग मे निम्नलिखित बातें ध्यान देने के काबिल हैं।

१. मैकडूगल ने मन का ज्ञानात्मक, चेष्टात्मक और संवेगात्मक प्रवृत्तियों में विभाजन करते हुए इनको कम से कम "सोशल साइकोलोजी" में तो अवांच्छनीय रूप से परस्पर पृथक् रखा है, ऐसा प्रतीत होता है। ये वास्तव में एक ही प्रक्रिया के विभिन्न पहलू हैं। खास तौर से अनुभूति और चेष्टा मे तो घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार दुःख की अनुभूति साथ ही दुःख को दूर करने की प्रवृत्ति की शुरुआत भी है और सुख की अनुभूति साथ ही सुख को बनाये रखनेकी प्रवृत्ति की शुरुआत।

२. आगे यह भी विचारणीय है कि डा० मैकडूगल का सहज-क्रिया को अलग-अलग प्रवृत्तियों का, उदाहरणार्थ, एक ज्ञानात्मक और दूसरी

---

* Introduction to Social Psychology, पृ० ४२—४।

चेष्टा और संवेग की मिली-जुली प्रवृत्ति का, जिनको कि उन्होने शारीरिक गठन की इकाइयां (structural units) कहा है, सयोग मानना कहा तक उचित है। प्रोफेसर स्टाउट (Stout) ने यह युक्ति पेश की है कि "ऐसा मानना तभी ठीक होता जब यह सिद्ध हो जाता कि प्रत्येक सहज-क्रिया मे किसी चीज का ठीक वैसा ही जन्मजात ज्ञान शामिल रहता है जैसा कि अनुभव से सीखने से आता है। उदाहरण के लिए, अगर हम यह मान सकते कि जब गिलहरी के सामने अखरोट या मूगफली होती है तब उसका सहज शारीरिक गठन ऐसा होता है कि उसे अन्दर की गरी की जानकारी हो जाती है, और यदि हम मान सकते कि प्रत्येक सहज-क्रिया मे अनिवार्यत: ऐसा जन्मजात ज्ञान शामिल रहता है, तब यह कहना शायद ठीक होता कि एक विशिष्ट ज्ञानात्मक प्रवृत्ति सहज-क्रिया का आवश्यक तत्व होती है।" लेकिन तथ्यों से केवल इतना ही प्रमाणित होता है कि सहज क्रिया मे "सामान्य तौर से देखने या जानने की शक्ति तथा एक विशेष रुचि जिसके कारण ध्यान अन्य चीजों को छोड़कर कुछ चुनी हुई चीजो पर जाता है" शामिल रहती है। डा० मैकडूगल विशेष ज्ञानात्मक प्रवृत्तियो का पृथक्-पृथक् शारीरिक गठन की इकाइया होना नही सिद्ध कर पाये है, ऐसा मालूम होता है।* इस प्रसग मे यह ध्यान देने की बात है कि डा० मैकडूगल ने सहज-क्रियाओं का जो वर्णन किया है उससे यह धारणा बनती है, यद्यपि स्वयं मैकडूगल को ऐसा अभिप्रेत नही है, कि सहज-क्रियाए गठन की स्वतंत्र इकाइयों के लगभग यंत्र-जैसे योग है और

---

* सम्भवतया मैकडूगल की "ज्ञानात्मक प्रवृत्ति" ध्यान देने और देखने की प्रवृत्ति से अधिक नही है।

समग्र शरीर ऐसी सहज-क्रियाओं और उनके सवेगों की एक तरह की गठरी है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि सहज-क्रिया सदैव समग्र शरीर की प्रतिक्रिया होती है और यदि व्याकरण की भाषा मे कहा जाय तो सहज-क्रियाए 'विधेय' है जिनका 'उद्देश्य' जीव है, अर्थात् सहज-क्रियाएं जीव के अपनी अभिव्यक्ति करने और अपने को जीवित रखने के तरीके है। इतना और जोड़ना ठीक रहेगा कि सहज-क्रिया के उक्त तीन तत्वों को स्नायु मडल के विशेष हिस्सो से परस्पर जुडे हुए मानने का जो शरीर-शास्त्रीय सिद्धान्त है वह एक परिकल्पना मात्र है।

३. डा० मैकडूगल का सहज-क्रिया और संवेग के सम्बन्ध के बारे मे जो मत है उसकी कडी आलोचना हुई है जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह तो अब आम तौरसे मान लिया गया है कि संवेगो का सहज-प्रवृत्तियों से सम्बन्ध घनिष्ठ है, लेकिन डा० मैकडूगल के सिद्धान्त में यह विशेषता है कि उसके अनुसार सवेग सहज-क्रिया का भावात्मक पहलू है और कि प्रत्येक मुख्य सहज-क्रिया के साथ एक विशेष संवेग जुड़ा हुआ है जो ख़ास तौर से उसी के साथ होता है। इस मत के खिलाफ़ मि० शैन्ड (Shand) ने कुछ जबरदस्त दलीलें दी है। इस विवाद मे दोनो पक्षो के साथ न्याय कर पाना आसान नही है, क्योंकि डा० मैकडूगल और मि० शैन्ड ने एक-दूसरे से भिन्न भाषाओ का इस्तेमाल किया है और एक तरह से वे सवेग और सहज-क्रिया का सम्बन्ध एक दूसरे से उल्टा दिखाते है। मैकडूगल के अनुसार संवेग सहज-क्रिया का एक महत्त्वपूर्ण प्रेरक-तत्व है और शैन्ड का विचार है कि कम से कम कुछ सहज-क्रियाए सवेग के अंग है। यह निश्चय ही शब्दों का भेद मात्र नही है बल्कि दृष्टिकोण मे मौलिक भेद प्रकट करता है। जो कुछ भी हो

मि० शैन्ड ने मैकडूगल के विपक्ष में अपने पक्ष को निम्नलिखित बातों में शक्तिशाली बनाया है:

(क) सहज-क्रिया निसर्गतः निर्धारित एक विशिष्ट सवेग के बिना भी सक्रिय हो सकती है। उदाहरण के लिये, यह सिद्ध नही होता कि घोंसला बनाने या शिकार फंसाने और पकड़ने में कोई एक निसर्गतः निर्धारित सवेग जो दूसरी सहज-क्रियाओं में न हो, रहता है।

(ख) एक ही मूल सवेग कई सहज-क्रियाओ, चेष्टाओं कहना अधिक ठीक रहेगा, के साथ रह सकता है; उदाहरण के लिये, भय का सवेग तरह-तरह के व्यवहार को जन्म दे सकता है, जैसे उड़ना, छिपना, मृतक होने का बहाना करना, ख़ामोश या निश्चल हो जाना अथवा ज़ोर की आवाज़ पैदा करना और भागने का जी-तोड़ प्रयास करना।

(ग) एक ही सहज-क्रिया कई सवेगों के लक्ष्यों की पूर्ति कर सकती है, उदाहरण के लिये चिड़ियों में उड़ने की सहज-क्रिया न केवल भय के सवेग से सम्बद्ध है बल्कि क्रोध, क्रीड़ा से होनेवाला हर्ष इत्यादि से भी। एक जगह से दूसरी जगह जाने की सहज-क्रिया भय, क्रोध और अरुचि के सवेगों की लक्ष्य-पूर्ति करती है।

सब मिला कर डा० मैकडूगल के विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि सहज-क्रिया का भावात्मक पहलू अथवा "रुचि" पक्ष स्वय सवेग नही है बल्कि केवल कुछ हालतों में संवेग मे बदल जाता है, जैसे, उस हालत मे जब कार्य की पूर्ति में विलम्ब होता है या कोई रुकावट कार्य-प्रवृत्ति के सामने आ जाती है, अथवा जब उत्साह अधिक होता है और कार्य उसको सन्तुष्ट नही कर पाता। ध्यान देने की बात यह है कि जब किसी सहज-क्रिया की कार्य कराने की प्रेरणा तुरन्त सन्तुष्ट हो जाती है, तब संवेग का तत्व अपनी निम्नतम सीमा पर होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि

संवेग का कार्य रुचि और आवेग को शक्तिशाली बनाना, आवेग के लक्ष्य को ध्यान के केन्द्र में बनाये रखना और एक सन्तोषजनक प्रतिक्रिया करने के लिये बाध्य करना है। जैसा कि मि० शैन्ड ने कहा है, संवेग सहज-क्रिया से अधिक लचीला होता है और तब पैदा होता है जब कोई सहज-क्रिया सफलतापूर्वक काम नहीं करती होती है अथवा जब उसका काम असन्तोषजनक होता है।*

४. डा० मैकडूगल ने जितनी सहज-क्रियाए गिनाई है उनको सारे मानवीय व्यवहार का मूल प्रेरक (prime-mover) अर्थात् व्यवहार को "चालक शक्ति प्रदान करनेवाला" माना है। लेकिन इसको सावधानी के साथ समझने की आवश्यकता है। मैकडूगल की सहज-क्रियाए वास्तव में प्राथमिक तत्व या इकाइया नही है, बल्कि, जैसा कि प्रो० लॉयड मॉर्गन ने कहा है, उनमे से प्रत्येक एक समष्टि का नाम है जिसमे एक ही लक्ष्य की सामान्य रूप से पूर्ति करनेवाले व्यवहार के कई भिन्न तरीक़े शामिल है। उदाहरण के लिये, जब हम आत्मगौरव या लाघव की सहज-क्रिया का उल्लेख करते है तब हमारा अभिप्राय व्यवहार के अनेक भिन्न तरीकों मे समान रूप से पाई जानेवाली कुछ विशेषताओं से होता है, तथा ये नाम केवल वर्णन के लिए उपयोगी समष्टि-नाम (class-names) है, ऐसे मौलिक तत्व नही कि जिन्हें किसी तरह से व्यवहार के उन तरीक़ों को निर्धारित करनेवाला माना जा सके। सहज-क्रियाओं के आवेगों (impulses) को शक्तिया

---

* देखिये कार्वर (Carver), "British Journal of "Psychology," नव० १९१९ : "The Generation and Control of Emotion"

कहना भी कम आपत्तिजनक नहीं है। ये आवेग कुछ सहज प्रक्रियाओं के चेतन पहलू मात्र है—उनकी तीव्रता की अनुभूति मात्राए हैं, न कि उनको उत्पन्न करनेवाली शक्तियां। इसलिये सहज-क्रियाओं को "मूल प्रेरक" कहने से तात्पर्य एकमात्र यही हो सकता है कि जीवन की सभी रुचियों या लक्ष्यों को संक्षेप में कुछ मोटे-मोटे शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है अर्थात् वे सब आत्मगौरव, जिज्ञासा, प्रतियोगिता इत्यादि के रूप है। लेकिन याद रखना चाहिये कि इस मत के खिलाफ भी डा० वुडवर्थ (Woodworth) ने गम्भीर आरोप लगाये हैं, उनका कहना है कि प्रत्येक मानवीय क्षमता का अपना रुचि-पक्ष होता है. "गाने की क्षमता के साथ गाने में रुचि होती है; सख्याओ के पारस्परिक सम्बन्धों से व्यवहार करने की क्षमता के साथ सख्या-विषयक रुचि होती है; यत्रों से व्यवहार करने की क्षमता के साथ यत्रविज्ञान में रुचि होती है; यही बात सभी असख्य क्षमताओं पर लागू होती है जिनमें वे भी शामिल है जो प्रायः सभी मनुष्य मे होती है और वे भी जो केवल कुछ ही व्यक्तियों मे प्रबल होती हैं।"*

डा० मैकडूगल का मतलब यह प्रतीत होता है कि सभी मानवीय रुचियों को मूल सहज-क्रियाओं और उनके योग से उत्पन्न रूपों के अन्तर्गत लाया जा सकता है। लेकिन, जैसा कि हम देख चुके है, मूल सहज-क्रियाए स्वय अधिक से अधिक समष्टियों के नाम मात्र है जिनमें से प्रत्येक मे प्रतिक्रिया के कई विविध रूप शामिल है, और इसमे सन्देह है कि उनसे कोई और चीज निकालने का प्रयत्न करने से कोई लाभ हो सकेगा। जैसा कि मैं समझता हू प्रोफेसर लॉयड मॉर्गन ने कहीं कहा है,

---

* "Dynamic Psychology", पृ० ७४।

मैकडूगल के मत में साहचर्यवादी (associationist) प्रवृत्ति नज़र आती है। सहज-क्रियाए परिवेश से आनेवाली उत्तेजनाओं की प्रतिक्रिया के कम या ज्यादा निश्चित तरीके है और इस दृष्टि से वे सब मौलिक है कि वे परिवेश से समायोजन करने के दौरान मे उत्पन्न होती है। क्या ऐसा नही हो सकता है कि मनुष्य के ऐसे-ऐसे लक्ष्य उत्पन्न हो जायं जिनका मूल सहज-क्रियाओं से कोई कार्य-कारण-सम्बन्ध न हो? जो कुछ भी हो, प्रो० वुडवर्थ के साथ हमको भी यह मानना होगा कि "मनुष्य के जन्मजात प्रेरकों (motives) का समूह जितना मैकडूगल के मत मे गुजाइश है उससे कही अधिक व्यापक और मानवीय व्यवहार की विविधता के लिए कही अधिक पर्याप्त है। दुनिया आकर्षक और रोचक है, केवल इसलिये नही कि वह हमें खाना और रहने के लिए जगह देती है तथा हमारी मूल सहज-क्रियाओं के लिए उत्तेजनाए प्रस्तुत करती है, बल्कि इसलिये कि हमारे अन्दर दुनिया की चीजों की अनेक विशेषताओं के साथ समायोजन मौजूद है और इन विशेषताओ से व्यवहार करने में हम आसानी से रोचक और तृप्तिकारक काम करने मे प्रवृत्त हो जाते है। मनुष्य के प्रेरको का क्षेत्र उतना ही विशाल है जितना वह संसार जिसे मनुष्य समझ सकता है और जिसमे वह व्यवहार कर सकता है।"*

५. मनुष्य के अन्दर सहज-क्रियाओं का क्या स्थान है, इस बारे में डा० मैकडूगल का जो मत है उसके खिलाफ शायद सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि वे उनको आत्म-निर्भर (self-subsistent) मानते है और समग्र शरीर को उनके एक प्रकार के संघात (aggregate) के रूप

---

* वही, पृ० ७५—६।

में देखते है। लेकिन वास्तव में बात यह है कि यद्यपि निस्सन्देह मानवीय स्वभाव का आधार वंशानुक्रम है और सहज-क्रियाओं और संवेगों में पाया जाता है, तथापि वशानुक्रम से प्राप्त प्रवृत्तियां अकेली जीवित नही रहती, बल्कि परस्पर घुल-मिल जाती हैं और बुद्धि से संयुक्त हो जाती है। यह सिद्ध करने के लिए कि सहज-क्रियाए अपने मूल रूप में सुरक्षित है और उनमे कोई परिवर्तन नही हुआ है कम ही प्रमाण मिलेगा। हमारी मनोदशाए (moods) अनेक घटकों (elements) के मेल से बनी होती हैं और उनमें सहज-क्रियाएं ऐसे रहती है जैसे कि मानो एक घोल के अन्दर हों। प्राय· देखा जाता है कि हमारे जिन प्रेरको का मूल कोई सहज-क्रिया होती है उनकी अभिव्यक्ति उस सहज-क्रिया की मूल गतियों से नही होती। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते है कि हमारा मौजूदा स्वभाव आदिकालीन आवेगों का सन्तुलन नहीं है, बल्कि एक नवीन संश्लेषण (synthesis) का परिणाम है जिसमे आवेगों का मूल रूप बहुत-कुछ बदला हुआ हो सकता है। इस दलील मे जो कुछ अभिप्रेत है उसका एक अच्छा उदाहरण युद्ध मे पाया जा सकता है। युद्ध की मनोदशा निश्चय ही सहज-क्रियाओ का सघात मात्र नही है। इसमें सन्देह नहीं है कि इस प्रसंग में देशान्तर-गमन की प्रवृत्ति, लूट-पाट करने की इच्छा, आत्म-प्रदर्शन का आवेग, सम्भोग का प्रेरक, भय का संवेग इत्यादि की ओर इशारा किया जा सकता है। लेकिन ये सब एक अत्यधिक सामान्य और मिले-जुले रूप मे दिखाई देते हैं तथा एक तरह के बिल्कुल नये रूप में संश्लिष्ट रहते हैं जो कि एक तरह का नशा होता है और बल का प्रयोग करने की उत्कट इच्छा पैदा करता है। लेकिन युद्ध मारने की सहज-क्रिया की आवृत्ति मात्र नही है। इसमें सन्देह है कि मारने की प्रवृत्ति

मनुष्य में सहज है, क्योंकि शिकार की आदत अर्जित मालूम पड़ती है और आदमी के सबसे नजदीकी रिश्तेदार लड़ाकू होने की अपेक्षा सामाजिक ही प्रतीत होते है। होता यह है कि युद्ध की मनोदशा जो आदिकालीन सहज-क्रियाएं हमारे अन्दर अभी तक परिवर्तित शक्ल में बची हुई हैं उनका अपने हित के लिये उपयोग करती हैं। मानवीय प्रेरक आश्चर्यजनक रूप में जटिल होते हैं और किसी एक ऐसी सहज-क्रिया मे उनका मूल ढूँढ़ सकना मुश्किल है जिसके बारे में यह दावा किया जा सके कि वह अपने आदि रूप में बची हुई है।

आगे महत्त्व की बात यह है कि चरित्र के निर्माण में केवल व्यक्ति की वशानुक्रम-प्राप्त या जन्मजात प्रवृत्तियां ही महत्त्व की नही होतीं। सामाजिक परम्परा (social tradition) हमें वह माध्यम प्रदान करती है जिसमे हम काम करते है और वही उन तरीक़ों को भी निर्धारित करती है जिनसे हमारी जन्मजात प्रवृत्तियों को तृप्ति मिल सकती है। एक तरह से सामाजिक परम्परा व्यक्ति के व्यवहार की स्थायी निश्चायक है और उसका कार्य वही होता है जो छोटे जीवों मे वश-परम्परा का है। पैतृक देन (hereditary endowment) और सामाजिक परम्परा के अतिरिक्त व्यक्ति का अपना अनुभव भी होता है और तीनों के मेल-जोल के परिणामस्वरूप एक सश्लिष्ट चीज निकल आती है जिसमें से मूल स्रोतों को छाटना और उनसे इकाइयों की तरह व्यवहार करना अत्यन्त मुश्किल हो जाता है। अतः प्रो० हॉबहाउस की तरह हमे भी यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य में ऐसा बहुत कम बचा है जो शुद्ध सहज-क्रिया हो, और ऐसा केवल इस कारण नही कि मनुष्य विचार करने, आलोचना करने, सहज-क्रिया की मांगों का अपने शेष व्यक्तित्व से तथा दूसरों की ज़रूरतों से मेल बैठाने मे समर्थ है,

बल्कि इस कारण कि उसका व्यवहार अनुभव के पहिले और सामाजिक परम्परा से स्वतत्र रूप मे बहुत ही कम स्थिर और अपरिवर्तनीय मानी जानेवाली सहज-क्रियाओं के द्वारा निर्धारित होता है। "भूख और प्यास निस्सन्देह सहज-क्रिया का स्वभाव रखती है, किन्तु भूख और प्यास को मिटाने के तरीके अनुभव या शिक्षा से सीखे जाते है। प्रेम और समग्र पारिवारिक जीवन का आधार सहज-क्रिया होता है अर्थात् ये मस्तिष्क और स्नायु की बनावट के साथ वशानुक्रम से प्राप्त प्रवृत्तियों पर निर्भर है, लेकिन इन आवेगों की तृप्ति के लिये जो कुछ करना पड़ता है वह व्यक्ति का अनुभव, जिस समाज मे वह रहता है उसके कानून और रिवाज, वह औरत जिससे उसका मेल होता है, उनके परस्पर मिलन की अन्य छोटी-मोटी बातें इत्यादि अनेक चीजो के द्वारा निर्धारित होता है"।* कामावेग या आत्म-गौरव का आवेग, इनके जैसे शब्दोंके अन्तर्गत आनेवाले व्यवहार का दायरा बहुत ही विशाल है और उस व्यवहार की तमाम क़िस्मों को एक सरल सहज-क्रिया के समरूप व्यापार का नतीजा बताने से समस्या पर कोई रोशनी नही पडती। हमे व्यक्ति के समग्र मन को अपने परिवेश के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करती हुई एक इकाई के रूप मे देखना होगा और यह मानना होगा कि उस इकाई के अन्दर जो जन्मजात प्रवृत्तिया रहती है वे केवल बीज की शक्ल में होती है जिनका विकास सामाजिक परिवेश या स्वयं व्यक्ति के अनुभव द्वारा होता है। "आदमी के अन्दर जो जन्मजात है वह क्षमता, प्रवृत्ति या झुकाव है, लेकिन क्षमताओं की पूर्ति, प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करना या न करना, झुकावों का निरोध या विकास

* "Morals in Evolution", पृ० ११।

पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया तथा आस-पास फैले हुए वातावरण के व्यापक प्रभाव के द्वारा होता है। सच्ची सहज-क्रिया के तत्व मौजूद रहते है, लेकिन छिन्न-भिन्न अवस्था में। मानव-स्वभाव में वशानुक्रम अकेला काम नही करता, बल्कि सर्वत्र तुलनात्मक विचार, दूर तक देखने और संयम की क्षमता के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए काम करता है।''*

ऊपर के विचार-विमर्श से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते है :—

१. मानवीय व्यवहार मे कुछ ऐसी विशेषताए दिखाई देती है जिनसे वह जीवविज्ञान की दृष्टि से पशुओं के व्यवहार से अविच्छिन्न सिद्ध होता है।

२. मानवीय चरित्र का आधार बहुत-कुछ वशक्रमागत है। दूसरे शब्दों में, हमारी रुचियां बहुत-कुछ तनाव की उन आधारभूत अनुभूतियों के द्वारा निर्धारित होती है जो सहज-क्रियाओ के अत्यावश्यक अंश है।

३. लेकिन (क) वशक्रमागत प्रवृत्तिया आत्म-निर्भर नहीं हैं बल्कि एक-दूसरे को प्रभावित करती और बदलती है जिससे कि आदमी मे वे परस्पर घुले-मिले और कटे-छंटे रूप मे दिखाई देती हैं।

(ख) वशानुक्रम-प्राप्त आधार के स्थायी रहने पर भी सहज-क्रियाओंके स्वय को अभिव्यक्त करने के तरीक़े परिस्थितियोके अनुसार व्यक्ति के अनुभव के अनुसार या उन सामाजिक परम्पराओ के अनुसार जिनमे व्यक्ति विकसित हुआ है, बहुत ज्यादे बदलते रहते है। अगर हम परम्परा, रीति-रिवाज की शक्ति का नाम सामाजिक वंशानुक्रम

---

* "Mind in Evolution", पृ० १०५।

(social heredity) और सहज-क्रिया की शक्ति का नाम जैविक वंशानुक्रम (biological heredity) रखें, तो हम कह सकते है कि व्यवहार की एक विशेष दिशा को समझने-समझाने के लिये हमे यह जानने की ज़रूरत होगी कि इनमें से प्रत्येक की उस व्यक्ति अथवा व्यक्तियो के समूह के अनुभव के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया का ठीक-ठीक प्रभाव क्या है जिसके व्यवहार को हमें समझना है।

अब हम समाज-शास्त्र में सहज-क्रियाओं के स्थान का विचार करने की स्थिति में आ गये है।

२

समाज में सहज-क्रिया

पिछले कुछ दिनों के साहित्य में सामाजिक तथ्यों को सहज-क्रियाओं या आवेगों की मदद से समझाने की एक उल्लेखनीय प्रवृत्ति की ओर ध्यान जाता है। समझाने का यह तरीक़ा कई सूरतों मे मिलता है। कुछ लेखक—उदाहरण के लिये मैकडूगल—अपनी व्याख्या में कुछ मूल सहज-क्रियाओं, जैसे आत्म-गौरव और आत्म- लाघव, की परस्पर-क्रिया का सहारा लेते हैं और परार्थमूलक व्यवहार (altruism) के विकास का आधार वात्सल्य के संवेग (tender emotion) का उसके मूल विषय अर्थात् शिशु से दूसरे लोगों में फैलना बताते है। कुछ अन्य लेखक एक विशेष सहज-क्रिया को आधारभूत महत्त्व का मानने पर जोर देते है, उदाहरण के लिये डा० ट्रौटर (Trotter) यूथ-वृत्ति अर्थात् समूह में रहने की सहज-प्रवृत्ति (gregarion instinct) को सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का आधार मानते है। कुछ अन्य लेखक ऐसे भी है जो अनुकरण (imitation), निर्देश (suggestion) और सहानुभूति (sympathy) की सहज प्रतीत होनेवाली प्रवृत्तियों को सामाजिक व्यवहार का मूल मानते है। इन मतों का

ऊपर दिये हुए क्रम में विचार करना सबसे अच्छा रहेगा, यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से तीसरे मत का स्थान पहिला है।

१. डा० मैकडूगल सामाजिक भावना का आधार वात्सल्य के सवेग (tender emotion) को बताते है। वात्मल्य का सवेग संतति-रक्षा की सहज-प्रवृत्ति के साथ रहता है अर्थात् उसका भावात्मक पहलू है। शुरू से यह सवेग मादा को हुआ करता था, लेकिन कालान्तर मे कई अन्य विशेषताओ की तरह यह भी नर की जाति मे सक्रमित हो गया, और इससे भी ज्यादे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सतति-रक्षण की प्रवृत्ति और वात्सल्य का संवेग इतने व्यापक हो गये है कि अब जब हम किसी दुर्बल और असुरक्षित जीव के साथ दुर्व्यवहार का होना देखते या सुनते है तो हमारे अन्दर ये पैदा हो जाते है। मैकडूगल ने इसी को सभी परार्थमूलक संवेगों का उद्गम माना है। सब प्रवृत्तियों की तरह संतति-रक्षा की प्रवृत्ति भी विफल होने पर या रोके जाने पर लडने के आवेग को और उसके साथ रहनेवाले क्रोध के सवेग को जन्म देती है। यह डा० मैकडूगल के अनुसार निःस्वार्थ अथवा नैतिक रोष (moral indignation) का उद्गम है।

मैकडूगल के मत के विरुद्ध नीचे लिखी दलीलें पेश की जा सकती है। सबसे पहिली बात यह है कि सामाजिक आवेगों या प्रवृत्तियो को किसी मूल प्रवृत्ति से निकला हुआ या गौण मानने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। वे उसी तरह पैदा होती है जिस तरह दूसरी और दोनो का जैविक मूल्य भी एक ही है अर्थात् वे जीवन बनाये रखने में सहायक है। वे जटिल और नवीन प्रतिक्रियाएं है और अधिक सम्भावना यह है कि वे पुरानी अनुभूतियोके विस्तार मात्र नही है। कुछ भी हो, उनमे रहनेवाले तत्व परिवार मे पाये जानेवाले स्नेह और वात्सल्य की

अनुभूतियों से प्रकार की दृष्टि से भिन्न प्रतीत होते हैं, खून की एकता से उनका कोई सम्बन्ध नही है और एक ही परिवार के सदस्यों के बीच जो वात्सल्य और प्रेम का सवेग पाया जाता है उसकी अपेक्षा इनमें विकास और सक्रमण की अधिक गुजाइश है।

दूसरी बात यह है कि मैकडूगल ने परार्थमूलक व्यवहार की समस्या पर जो विचार किया है वह आपत्तिजनक है। वे यह सोचते हुए प्रतीत होते है कि स्वार्थ-मूलक प्रवृत्तियों की तुलना में परार्थ-मूलक प्रवृत्तियों के स्पष्टीकरण की ज्यादे जरूरत है। लेकिन आधुनिक जीवविज्ञान और तुलनात्मक मनोविज्ञान का झुकाव इन दोनों तरह की प्रवृत्तियों को समान रूप से मौलिक मानने की ओर है। हम कह सकते है कि सभी प्रवृत्तिया अपनी-अपनी वस्तुओं की दिशा मे संचालित होती है। यह प्रश्न कि उनसे लाभ अपना होता है या दूसरो का, केवल विकास को ऊंची अवस्था मे ही उठ सकता है और यदि हम प्रवृत्तियों के विकास पर ध्यान दें तो हम देखेंगे कि वे एकान्त रूप से स्वार्थपरक नही हो सकती। आदमी जिस क्षण एक सामाजिक जीव बन जाता है तभी से उसके लिये सबसे ज्यादा महत्त्व सामाजिक जीवन का हो जाता है। जीवन-रक्षा की दृष्टि से सामाजिक सहज-प्रवृत्तिया उतनी ही महत्त्व रखती है जितना व्यक्ति से सम्बन्ध रखनेवाली। सामाजिक व्यवहार का मूल स्रोत दूसरे लोगो से प्राप्त उत्तेजना की प्रतिक्रिया है और इस प्रतिक्रिया की प्रकृति बदलती हुई परिस्थितियों के साथ बदलती रहेगी तथा सभी अन्य प्रति-क्रियाओं की तरह इस बात के द्वारा निर्धारित होगी कि जीवन-रक्षा मे वह कितनी सहायक हैं। निःस्वार्थ व्यवहार की समस्या असल में आदि-कालीन व्यवहार में चिन्तनात्मक विचारों की अवतारणा करने से पैदा होती है। लेकिन यदि हम यह याद रखें कि सभी प्रवृत्तियां मूलतः

अपनी वस्तुओं की ओर उन्मुख होती हैं, प्राणी के लिए सुख या शुभ की प्राप्ति की ओर नही, तो हम शैन्ड के इन शब्दों में व्यक्त विचार से सहमत हो सकते है कि "प्रत्येक संवेग में निःस्वार्थपरता छिपी रहती है, क्योंकि जो उत्तेजनाएं उसको सक्रिय करती हैं उनमें से कुछ ऐसी होती हैं जो स्वयं अपने हित के बजाय दूसरों के हित में उसे सक्रिय करती है।"* जो कुछ भी हो, वात्सल्य का संवेग सारे निःस्वार्थपरक व्यवहार का मूल नहीं हो सकता, उदाहरण के लिए, एक पतंगा अपनी सतान के लिये कार्यरत होता है जिसे उसने न कभी देखा और न देख सकता है, और अपने अंडों को ऐसे स्थान पर देता है जहा उसके बच्चे को रक्षा और खाना उपलब्ध हो सके। जैसा कि मि० शैन्ड पूछते है, क्या हम पतंगे में वात्सल्य के संवेग के होने की कल्पना कर सकते है? और विकसित भावनाओं, जैसे ज्ञान या सौन्दर्य का प्रेम, के बारे मे हम क्या कहेंगे? क्या ये भी वात्सल्य के संवेग के फल है? मैकडूगल के मतानुसार नैतिक व्यवहार के मूल मे न केवल वात्सल्य का सवेग और सतति-रक्षा की प्रवृत्ति के विफल या अवरुद्ध हो जाने से पैदा होनेवाला क्रोध या रोष है, बल्कि आत्म-गौरव (self-assertion) और आत्म-लाघव (submission) की दो मुख्य सहज-प्रवृत्तिया भी है। अपने समाज की नियमावली को मानने की तत्परता, लोकमान्य पुरुषो की बात मानना, जन-मत के प्रभाव मे आ जाना, यह सब मैकडूगल के मत के अनुसार आत्म-सम्मान की भावना (self-regarding sentiment) में आत्म-हीनता अथवा विनीतता की अनुभूति के आ जाने का और उसके परिणाम-स्वरूप पैदा होनेवाली ग्रहणशीलता

---

* "Foundations of Character", पृ० ४९।

(receptivity) तथा शिक्षा और दृष्टान्त से सीखने और अपने से बडों की प्रशंसा और निन्दा से प्रभावित होने की इच्छुकता का असर है। इस असर के साथ दण्ड या जैसा कि बाद में होता है, दण्ड की धमकी का असर भी जोड़ा जा सकता है, जो अपने साथ भय का तत्व लाता है, जो भय कि शक्ति-सम्पन्न या लोकमान्य पुरुषो के प्रति हमारे सवेगात्मक रुख को रंग देता है और उस जटिल रुख का एक अनिवार्य अंग बन जाता है। आत्म-सम्मान की भावना का उत्तरोत्तर नैतिक (moral) बनना शक्ति-संपन्न पुरुषों के तथा सक्रिय सहानुभूति के उस आवेग के प्रभाव के कारण होता है जो आदमी को अपने आस-पास के लोगो को खुश करनेवाले व्यवहार मे सन्तोष पाने और उनको पसन्द न आनेवाले व्यवहार से बचने के लिये बाध्य करता है। आत्म-गौरव की प्रवृत्तिया भी इस नैतिकीकरण की प्रक्रिया के दौरान में सोई हुई नही रहती। इसके विपरीत, जैसे-जैसे व्यक्ति का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे वह उत्तरोत्तर उन लोगों की अधीनस्थता से मुक्ति पाता जाता है जो कभी उसके बड़े थे और जो उसके अन्दर विनीतता या आज्ञाकारिता का भाव उत्पन्न करते थे, तथा वह अपने विशाल संसार में नये बडों को पाने लगता है। बहुसंख्यक मामलों में यह होता है कि समाज अपने ऊंचे गौरव और महत्त्व के कारण अपनी प्रभुता फिर भी बनाये रखता है लेकिन कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते है जो अपने अनुभव से यह देखने पर कि समूहों की नियमावलिया परस्पर भिन्न होती हैं और एक समूह में पसन्द किये जानेवाले कार्य दूसरे मे नापसन्द किये जाते है, लोक-मत और जन-समूह की उपेक्षा करने लगते हैं, स्वयं अपने व्यक्तिगत और नैतिक निर्णयों को प्रमाण मानने लगते है, दूसरों के विचारों के प्रभाव में आना छोड़ देते हैं और उस स्थिरता, आत्म-सम्मान और आपेक्षिक

स्वतंत्रता को प्राप्त करते है जो नैतिक जीवन का सबसे ऊचा रूप है। नैतिक तरक्की "आत्म-सम्मान की भावना के विकास से और 'दर्शको' यानी लोगो के उस समूह के मानसिक परिष्कार से होती है जो हमारे अन्दर आत्म-प्रदर्शन की इच्छा को पैदा करने मे समर्थ होता है और जिसके सामने हम आत्म-प्रदर्शन करते है; और यह परिष्कार तब तक जारी रह सकता है जब तक कि 'दर्शक' समूह एक आदर्श दर्शक-समूह नही बन जाता, अथवा अन्त मे जब तक स्वय अपने अन्दर रहनेवाला आलोचक ऐसे आदर्श दर्शकों का प्रतिनिधि नही बन जाता।"

इस वक्त हमे उस नैतिक सिद्धान्त से कुछ लेना-देना नही है जो नैतिक और सामाजिक जीवन के विकास के इस वर्णन मे छिपा हुआ है। डा० मैकडूगल ने जो विस्तृत वर्णन किया है उसमे से अधिकाश के ऊचे मूल्य मे और जिसे उन्होने आत्म-सम्मान की भावना कहा है उसके महत्त्व मे कोई शक हो ही नही सकता। लेकिन वर्णन अलग चीज है और व्याख्या या स्पष्टीकरण अलग चीज। उदाहरण के लिये, यह कहना कि बडो की आज्ञाकारिता आत्म-लाघव की सहज-प्रवृत्ति और विनीतता की अनुभूति के कारण होती है, यह कहने से भिन्न प्रतीत नही होता कि लोग आज्ञाकारी है क्योकि वे आज्ञाकारी है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यह सहज-प्रवृत्ति, यदि वास्तव मे यह सहज हो, व्यवहार के अनेक भिन्न-भिन्न तरीको का एक सामूहिक नाम मात्र है जो उन तरीको मे किसी समान तत्व के मौजूद होने की वजह से दिया गया है, लेकिन एक नाम देने से उन तरीको का किसी भी तरह स्पष्टीकरण नहीं होता। इसके अतिरिक्त, सहज-क्रियाओं की सच्ची समस्या, जहा तक कि उनका सामाजिक जीवन पर असर है, यह है कि वे कितने बडे दायरे मे लागू होती हैं और उनकी अभिव्यक्ति किन-किन सूरतों मे

होती है। इस हालत मे जो हम जानना चाहेगे वह यह है कि विशेष-विशेष समूहो मे कुछ नियमावलिया क्यों पैदा होती है और अन्यो की अपेक्षा उन्हें ही क्यो श्रद्धा से देखा जाता है, और इस तरह की समस्या का एक बिल्कुल आम प्रवृत्ति की ओर सकेत करने मात्र से कोई हल नही निकलता। फिर, मैकडूगल का सामाजिक जीवन का वर्णन और प्रभुत्व तथा विनीतता की सहज-प्रवृत्तियो पर उसका जोर देना विशुद्ध सामाजिक प्रवृत्तियो और उनके ऊपर आधारित समानता (community) की अनुभूति की उपेक्षा कर देता है। मैकडूगल ने अवश्य ही यूथ-वृत्ति (gregarious instinct) का उल्लेख किया है, लेकिन इसे वे केवल समूह मे रहने की प्रवृत्ति मानते है। क्या इस तरह की कोई प्रवृत्ति नही है जो एक साथ काम करने, मिल-जुल कर रहने की प्रेरणा दे?

२ डा० मैकडूगल के विपरीत डा० ट्रौटर ने यूथ-वृत्ति पर अत्यधिक जोर दिया है। यह प्रवृत्ति केवल समूह के हरेक सदस्य के अपने साथियो के व्यवहार के प्रति संवेदनशील रहने मे और हमेशा समूह के साथ रहने की इच्छा रखने मे ही प्रकट नही होती, बल्कि सभी सदस्यों की मानसिक गठन के आधारभूत परिवर्तन मे भी प्रकट होती है। यह उनको समूह से आनेवाली या समूह की स्वीकृति-प्राप्त हरेक बात के प्रति सजग बनाती है और इस वजह से इसका सबसे बड़ा महत्त्व इस बात मे है कि समूह मे जो मत, नियम और आदर्श विकसित होते है उनको यह एक प्रकार की नैसर्गिक स्वीकृति प्रदान करती है। यह दिखाना आसान है कि लोग जिन धारणाओं को मानते है उनमें से अधिकांश तर्क के आधार पर प्रतिष्ठित नही होती, फिर भी माननेवालों को वे बिल्कुल सन्देहहीन और सही मालूम पड़ती है। डा० ट्रौटर की दलील है कि उनकी यह

विशेषता यूथ-निर्देश (herd-suggestion) का फल है और कि इस तरह बिल्कुल गलत धारणाएं तक तर्क-सम्मत सत्यों का बाना ग्रहण कर ले जाती है, यद्यपि उस हालत में व्यक्ति "युक्तत्याभास" (rationalization) का तरीका अपना कर उनको सही सिद्ध करने की कोशिश कर सकता है। यह दावा किया गया है कि सम्पूर्ण नैतिकता, शासकों की शक्ति, रीति-रिवाजों और आदर्शों का प्रभाव, सब के सब अन्त में यूथ के प्रभाव के कारण है। यहां तक कि जिसे हम अन्तःकरण (conscience) कहते है वह यूथ की अस्वीकृति से उत्पन्न बेचैनी की अनुभूति मात्र है, और धर्म का आधार यह तथ्य है कि किसी समूह मे रहनेवाली जाति का एक व्यक्ति यथार्थ मे कभी स्वतन्त्र और आत्म-निर्भर नही हो सकता और इस कारण से उसके अन्दर पूर्णता प्राप्त करने की, "ब्रह्म" मे लीन हो जाने की वह चाह पैदा होती है जो धार्मिक भावना का सार है।

यहा पर हमारे लिये उन बुद्धिमत्तापूर्ण और ज़ोरदार दलीलो के साथ जो डा० ट्रौटर ने पेश की है अथवा उन अनगिनत दृष्टान्तों के साथ जिनसे उनकी व्याख्या भरी हुई है, न्याय कर पाना सम्भव नहीं है। फिर भी यह बरबस कहना ही पड़ता है कि मैकडूगल की व्याख्या* में तथ्यो को जितना सरल दिखाया गया है उससे कही अधिक सरल डा० ट्रौटर की व्याख्या में दिखाया गया है। स्वय डा० ट्रौटर ने माना है कि यूथ-वृत्ति उस किस्म की सहज-प्रवृत्ति नही है जिस क़िस्म की भोजन, प्रजनन और स्व-रक्षा की प्रवृत्तिया हैं, बल्कि इस नाम का इस्तेमाल परस्पर बहुत

* खास तौर से यह याद रखना चाहिए कि मैकडूगल ने मानसिक विकास के सभी दर्जो को महत्त्व दिया है।

भिन्न तथ्यो की एक बड़ी संख्या का वर्णन करने के लिये होता है। बाद मे हम देखेंगे कि ऐसा विश्वास करना सकारण है कि निर्देशनीयता (suggestibility) का मूल सदैव यूथ-वृत्ति नही होती बल्कि अलग-अलग परिस्थियोंमें अलग-अलग प्रेरक उसके कारण होते है। और यदि यूथ-वृत्ति को ही निर्देशनीयता का मूल मान लिया जाय तब भी यह समझ मे नही आता कि यूथ-वृत्ति का, जहा तक कि वह एक सहज-प्रवृत्ति है, व्याख्या मे आसरा लेने का क्या अर्थ है? क्या कारण है कि कुछ धारणाओं को यूथ का सम्मान प्राप्त होता है? हमें बताया गया है कि निर्देशनीयता मे अन्तर इस बात पर निर्भर होते है कि निर्देशों का यूथ की आवाज के साथ कितनी मात्रा में अभेद किया जाता है। लेकिन निस्सन्देह जरूरत इन मात्राओ का कारण मालूम करने की ही है और इस दृष्टि से हमारे सामने जो समस्या खडी होती है उस पर अकेली एक सामान्य यूथ-वृत्ति कोई रोशनी नही डाल सकती।

विचार की जो दिशा हमने पकड़ी है उससे सामाजिक जीवन को अकेले कुछ प्रारम्भिक सहज-प्रवृत्तियों के सहारे समझाने की सारी कोशिश की एक आलोचना दिमाग मे आती है। हम ऊपर देख चुके है कि सहज-प्रवृत्तिया आदमी में अपने नपे-तुले आदि-रूप मे नही रहती, बल्कि एक-दूसरी से घुल-मिल जाती है। इसका नतीजा यह हुआ है कि आदमी का मामाजिक जीवन सहज-प्रवृत्तियों का एक सन्तुलन मात्र नही रहा बल्कि एक नया परिणाम या संयोग है जिसमें मूल सहज-प्रवृत्तियों का रूप बहुत बदला हुआ है। इसलिये सामाजिक जीवनको एक या एक से अधिक सहज-प्रवृत्तियों की मददसे समझने का तरीका निरापद नही है। इसके अलावा, यद्यपि मनुष्यका व्यवहार और चरित्र वंशानुक्रम से मिली हुई प्रवृत्तियों पर आश्रित है, फिर भी इन प्रवृत्तियोंके अभिव्यक्त होने का

तरीका बुद्धि, अनुभव और सामाजिक परम्परा पर निर्भर होता है। अतः बुद्धि, अनुभव और सामाजिक परम्परा का भी कम महत्त्व नहीं है। उदाहरण के लिये, जब यह कहा जाता है कि युद्ध भय का या लडने की सहज-प्रवृत्तिका परिणाम है तब किसी विशेष युद्ध को समझने के लिए हमें वस्तुत. बहुत कम मालूम होता है। इसमें कोई शक़ नही है कि दो राष्ट्रोके वैर-भाव का आधार कोई सहज-प्रवृत्ति होती है, लेकिन उसका प्रकाशन अत्यधिक उलझी हुई रुचियों पर निर्भर होता है जिनमे अनुभव और बुद्धि काम करती है, यद्यपि उनका तार्किक औचित्य नही होता। एक विशेष युद्ध को समझने के लिये यह जरूरी है कि हम राष्ट्रो का इतिहास जाने, उनकी परम्पराओ, उनके सामाजिक आदर्शो और सस्थाओं का ज्ञान प्राप्त करें, लेकिन इनके ऊपर शुद्ध सामान्य सहज-प्रवृत्तिया बिल्कुल भी रोशनी नही डालती। निस्सन्देह भय भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है तथा सहानुभूति और यूथचारिता (gregariousness) भी; लेकिन इन सवेगो और प्रवृत्तियो के लागू होने का दायरा तथा उनके अभिव्यक्त होने के तरीक़े अनिश्चित है, घट-बढ़ सकते हैं, कई विभिन्न दिशाओं में मुड सकते है, और जिस विशेष दिशा में वे मुड़ते है वह सामाजिक प्रतिमान, रीति-रिवाज और संस्थाओं पर, आदत और शिक्षा पर, सक्षेप मे व्यक्ति और राष्ट्र के अनुभव पर निर्भर करती है। समाज-विज्ञान की वास्तविक समस्याए सहज-प्रवृत्तियों को माननेवाले सम्प्रदाय के ग्रन्थकारो ने बग़ैर हल किये छोड़ दी है। इस सूचना से कुछ मदद भले ही मिले कि सम्पत्ति रखने का रिवाज संग्रह की सहज-प्रवृत्ति पर आधारित है, लेकिन जो हम सचमुच जानना चाहते है उसके बारे में अर्थात् सम्पत्ति के अलग-अलग सामाजिक व्यवस्थाओं में जो अलग-अलग रूप होते है उनके बारे में इससे कोई जानकारी नहीं होती। अतः दण्ड

के पीछे क्रोध का आदिकालीन सवेग हो सकता है, और सामान्य तौर से हमारी नैतिक चेतना मे तथा विशेष तौर से अनैतिक काम की सजा देने मे आदिकालीन आवेगो के इतने तत्व मौजूद है जितने हम मानना भी नही चाहेगे, जैसे अहकार और स्व-श्रेष्ठता के तत्व, आक्रमण और यूथ-निर्देश (herd-suggestion) के तत्व; और इनके प्रभावो को प्रकाश मे लाना भी मानव-व्यवहार को समझने मे काफी मूल्य रखता है, लेकिन उसकी पूरी-पूरी व्याख्या करने के लिये ये बिल्कुल ही अपर्याप्त ह।

३. समाज का निर्देश-अनुकरण सिद्धान्त (suggestion-imitation theory)—इस सिद्धान्त को सबसे पहिले बेगहॉट (Bagehot) ने अपने "Physics and Politics" नामक ग्रन्थ मे सन् १८७३ मे प्रस्तुत किया था और बाद मे टार्डे (Tarde) ने अपने ग्रन्थ "Lois de l' imitation" मे १८९६ मे विस्तार से इसका विकास किया। बाल्डविन (Baldwin) के हाथो इसका जो विकास हुआ उसमे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अधिक है। बेगहॉट ने यह सिखाया कि अनुकरण आदिकालीन समाज को ढालनेवाली शक्ति थी और अब भी सामाजिक शक्तियो मे सबसे प्रमुख है। "शुरू-शुरू मे अकस्मात् प्रधानता प्राप्त कर लेने से कोई आदमी नमूना (आदर्श) बन गया और तब अदम्य आकर्षण ने, जो चीज आखों के आगे है उसका अनुकरण करने की आवश्यकता ने जो कि सबसे बलवान् के अलावा सबके अन्दर है, अपनी आकाक्षा के अनुसार बनने की आवश्यकता ने आदमियो को उस नमूने के अनुसार ढाला।" बेगहॉट ने यह दिखाया है कि अनुकरण की इस तरह की प्रक्रिया अब भी जीवन के सब क्षेत्रों मे चल रही है। उसके मत से पहिनावे के फ़ैशन, लिखने की शैली के, बोर्डिंग स्कूलो की आदतो के फैशन, यहां तक कि राजनीति और धर्म के फ़ैशन भी आम

लोगो का अकस्मात् किसी निर्देश को ग्रहण करके उसका अनुकरण करने के परिणाम है। उसके अनुसार यह अनुकरण अनायास और अज्ञान तरीके से चलता है और इतना प्रबल होता है कि जब हमे यह लगता है कि हमारा अनुकरण करना सफल नहीं हुआ तब हमे दु.ख होता है। "अधिकतर लोग फूहड़ कहलाने के बजाय दुष्ट कहलाना अधिक पसन्द करेगे।" दूसरे शब्दो में, प्रमुख तौर-तरीकों की ठीक नकल न कर पाना बेइज्जती समझी जाती है, सिर्फ इसलिये कि यह ख़राब अनुकरण है।

बेगहॉट ने अनुकरण के स्वरूप का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नही किया है, सिर्फ इतना कहा है कि अनुकरण प्रधानत: अज्ञात और अनैच्छिक होता है और कि "हमारे स्वभाव के अनुकरणात्मक अंग का मुख्य स्थान हमारा विश्वास है।" इससे मालूम होता है कि जिसे अब प्राय: निर्देश कहा जाता है उसे बेगहॉट ने अनुकरण में ही शामिल किया था। बेगहॉट ने अपने मत को समझाने के लिये कई ज़ोरदार और रोचक दृष्टान्त दिये है और उसने यह दावा करने की गलती भी नही की है कि समाज-विज्ञान में अनुकरण ही एकमात्र महत्त्व का उसूल है। उसने दिखाया है कि अनुकरण रूढ़ियों की रक्षा करनेवाली एक जबर्दस्त ताकत है और न बदलनेवाली रीतियां इसी के कारण अपनायी जाती है। अगर हम यह पूछें कि फिर तरक्की कैसे सम्भव है तो इसका जवाब यह है कि प्रगतिशील समुदायों मे एक अन्य प्रवृत्ति भी देखी जाती है जिसे हम वाद-विवाद (discussion) की प्रवृत्ति कहते है, इसी के कारण तरक्की होती है। यह प्रवृत्ति मौलिकता (originality) यानी नवीनता को प्रोत्साहन देती है, बुद्धिमानी को पुरस्कृत करती है, सहनशीलता और स्वतंत्र विचार करना सिखाती है। एक बहुत अच्छे

अध्याय में ("The Age of Discussion") बेगहॉट ने दिखाया है कि तरक्की केवल उन देशों में हुई है जिन्होंने जल्दी ही वाद-विवाद के द्वारा शासन चलाने के सिद्धान्त को अपना लिया।

टार्ड का सिद्धान्त जिसमें कि अनुकरण को सामाजिक जीवन का आधारभूत उसूल माना गया है बेगहॉट के "Physics and Politics" से पृथक् विकसित हुआ। यह सम्पूर्ण जगत के बारे में बनाये गये एक सामान्य दार्शनिक सिद्धान्त का एक हिस्सा है जिसको कि उसने कल्पना की अद्भुत उर्वरता दिखाते हुए समाज-शास्त्र के लगभग सभी क्षेत्रों मे लागू किया। यहां पर उसके सिद्धान्त का विस्तार से वर्णन करना सम्भव नही है; केवल उसकी मुख्य बातों को ही संक्षेप में दिया जा सकता है। टार्ड ने यह खोज की है कि किसी समूह के सदस्योके मध्य मानसिक परस्पर-क्रिया (inter-action) का होना ही सामाजिक प्रक्रिया है। इस परस्पर-क्रिया की तीन शक्लें होती है, पुनरावृत्ति (repetition), विरोध (opposition) और समनुकूलन (adaptation)। ये तीन समाज-विज्ञान मे कोई नये उसूल नही है बल्कि "वे तीन कुजिया है जिनका उपयोग विज्ञान विश्व के रहस्यो को खोलने के लिये करता है।" ये सभी पदार्थो के आधारभूत पहलू है। "पुनरावृत्ति के तीन रूप होते है: पहला लहराना (undulation) जो इसका भौतिक रूप है और हवा जैसे लचीले माध्यम मे ध्वनि-तरंगों के गुज़रने में दिखाई देता है; दूसरा वंशानुक्रम जो इसका जैविक रूप है और जिससे प्राणियो मे पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवन की पुनरावृत्ति होती है; तीसरा अनुकरण जो इसका सामाजिक रूप है जिसके ऊपर समाज निर्भर है। इसी तरह विरोध के भी भौतिक, जैविक और सामाजिक रूप होते है; इसके सामाजिक रूप मे युद्ध,

प्रतियोगिता और वाद-विवाद शामिल है।"* टार्डे ने इन तीनो उसूलों के आपेक्षिक महत्त्व को सक्षेप मे इस तरह बताया है: "इन तीनों नामों से एक वृत्ताकार शृखला बनती है जो बग़ैर रुके बराबर चलती रहती है। आविष्कार, जो कि सबसे मौलिक सामाजिक समनुकूलन का रूप है, अनुकरणात्मक पुनरावृत्ति से फैलता और मजबूत होता है, तथा स्वयं अपनी एक नकल के किसी अन्य पुराने या नये आविष्कार की नकल से टकराने से या तो नये संघर्षो को जन्म देता है या नये और अधिक जटिल आविष्कारो को जन्म देता है जो जल्दी ही खुद भी अनुकरण के तरीके से फैलते है, इसी तरह यह क्रिया अनिश्चित काल तक चलती रहती है।...... .. .. इस प्रकार इन तीन नामो मे से पहिला और तीसरा ऊचाई, गहराई, महत्त्व और शायद स्थितिकाल में भी दूसरे से बढ़े हुए है। दूसरे—विरोध—का एकमात्र मूल्य प्रतिरोधी शक्तियों मे तनाव पैदा करना है जो कि आविष्कार करनेवाली प्रतिभा को उकसाने मे समर्थ होता है।" †

समाज के बारे मे हम कह सकते है कि उसके सभी जटिल तथ्यों का अन्त मे जिन महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओ मे विश्लेषण किया जा सकता है वे है अनुकरण (पुनरावृत्ति का एक रूप) और आविष्कार (समनुकूलन)। समाज का आवश्यक लक्षण है अनुकरण के द्वारा एक व्यक्ति के आविष्कार का फैलना और आगे की पीढ़ियो मे पहुंचना। प्रगति का स्रोत है आविष्कार अर्थात् नवीन व्यक्तिगत विचारों और कामों का अपनाया जाना। सादृश्य, समरूपता, सहयोग का स्रोत है

---

* Davis: "Psychological Interpretations of Society", पृ० १२०।
† "Social Laws", पृ० १३५-१३७।

अनुकरण अर्थात् दूसरे लोगों के विचारों और कार्यों का अपनाया जाना। सामाजिक प्रक्रिया समान लोगों को उत्पन्न करने की प्रक्रिया है (इसके विरुद्ध अरस्तू कहता है कि "राज्य समान लोगो से नहीं बनता"), अर्थात् यह व्यक्तियों के मध्य इस तरह का मानसिक सम्बन्ध है कि जिससे एक नमूने के अनुसार ढलकर वे मानसिक दृष्टि से पहिले से ज्यादे एक समान बन जाते है। नये सम्बन्धों के निर्माण से आविष्कार होते हैं। आविष्कार करने की योग्यता तब बढ़ती है जब विचारों के बीच नये सम्बन्ध देखने की, अब तक जिन सादृश्यों पर ध्यान नही गया उनको खोज निकालने की योग्यता बढ़ती है। टार्ड का विचार यह मालूम पड़ता है कि हरेक जाति की योग्यता का दायरा अपेक्षाकृत निश्चित होता है और यदि किसी आविष्कार के लिये जितनी योग्यता उस जाति के पास है, उससे अधिक की जरूरत है तो ऐसा आविष्कार उस जाति के द्वारा कभी नही हो पायेगा। आविष्कारों का, खास तौर से ऊंचे दर्ज़े के आविष्कारों का, और "महान् व्यक्तियो" के आविष्कारों का प्रारम्भ एक दैवयोग की बात होता है। फिर भी कोई-कोई सामाजिक परिस्थितिया आविष्कारों की सहायक होती है, जैसे, जनसंख्या। जनसख्या जितनी बड़ी होगी, ऊंची क़िस्म के लोगों के पैदा होने की उतनी ही ज्यादा सम्भावना रहेगी। इसके अलावा समाज के व्यक्तियों की सजातीयता आविष्कार और अनुकरण के द्वारा उसका प्रचार दोनों के लिये अनुकूल होती है। एक और महत्त्वपूर्ण तत्व है सामाजिक सम्पर्क की अर्थात् लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्ठता; "सामाजिक दूरी" के घटने के साथ आविष्कार की सम्भावना बढ़ जाती है।

आविष्कार की सामाजिक सफलता अर्थात् अनुकरण दो तरह के

सामाजिक कारणों पर निर्भर होता है जिन्हें टार्डे ने तार्किक और अतार्किक कहा है। सबसे पहिले, "तार्किक असंगति" अर्थात् प्रचलित धारणाओ या रिवाजो से मेल न खाना एक नये विचार को अस्वीकार्य बना देता है, उदाहरण के लिये, अगर कोई सिद्धान्त विकासवाद के आम सिद्धान्त के विरुद्ध है तो उसके सफल होने की अब अधिक सम्भावना नही रहेगी। इसके बाद अतार्किक कारण आते है जो तीन तरह के है पहिला, टार्डे का विचार है कि अनुकरण अन्दर से बाहर की ओर आन्तरिक बातो से बाहरी बातों की ओर चलता है। "इस प्रकार सोलहवी शताब्दी मे पोशाक के फैशन फ़्रास मे स्पेन से आये। इसका कारण यह था कि स्पेन के आधिपत्य के समय स्पेन का साहित्य पहिले ही फ़्रास के साहित्य पर हावी हो चुका था। सत्रहवी शताब्दी मे जब फ्रास का आधिपत्य स्थापित हो गया तब फ़्रांस का साहित्य योरोप पर छा गया और बाद मे फ़्रास की कलाओ और फ़ैशनों का दुनिया मे खूब प्रचार हुआ।"* फिर, दूसरो से कर्मकाण्ड (rites) की अपेक्षा रूढ़ विश्वास (dogma) और सिद्धान्त ज्यादा आसानी से ले लिये जाते है; विभिन्न समुदाय एक दूसरे की क़ानूनी पद्धतियों के पहिले कानून अपनाते है। इसमें ही इस बात का कारण भी मिल जाता है कि रूढ़ विश्वास या सिद्धान्तों की अपेक्षा बाहरी कर्मकाण्ड, सस्कार और व्यवस्था क्यों अधिक पुराने हो जाते है।

दूसरा, आविष्कारक का सम्मान या ऊंची सामाजिक स्थिति भी एक अत्यन्त महत्त्व का तत्व होता है। दूसरी बातों के समान रहने पर अनुकरण का फैलाव ऊंची सामाजिक स्थिति के आदमी से नीचे

---

* "Laws of Imitation" पृ० १९९-२१३।

स्थितिवालों की ओर होता है। शासक, बड़े नगर, सफल व्यक्ति उदाहरण प्रस्तुत करते है और बाकी लोग उनका अनुकरण करते है।

तीसरा, समाज की कुछ हालतो में उसका अतीत अत्यधिक शक्तिशाली प्रभाव डालता है। परम्परा का आदर केवल इसलिये किया जाता है कि वह पुरानी है। पुनः किसी-किसी समय जो बात नई और विदेशी होती है उसका सम्मान होता है। जब नई बात की नवीनता खत्म हो जाती है तब वह स्वयं एक रिवाज बन जाती है। "रिवाज और फैशन के युग एक-एक करके आते रहते है।"

यह टार्डे के सिद्धान्त की रूप-रेखा है। समाज-विज्ञान के लेखकों पर इसका बहुत बड़ा प्रभाव पडा है, खास तौर से रौस (Ross) पर जिसने इसको लोकप्रिय बनाने में बहुत मदद की है। निर्देश के प्रभाव के ऊपर जिन लोगो ने जोर दिया है उनमें सिगेल (Sighele) और लु बों (Le Bon) तथा सिडिस (Sidis) भी हैं। सिडिस ने तो यहां तक कहा है कि "निर्देशनीयता यूथ का सीमेंट है, आदिकालीन सामाजिक झुण्डों की आत्मा है। .. मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसमें कोई सन्देह नही है, लेकिन वह सामाजिक इसलिए है कि उसके अन्दर निर्देशनीयता है।"*

मै समझता हू कि अब यह प्रायः मान लिया गया है कि यद्यपि इन मतों में सच्चाई के अंश मौजूद हैं, फिर भी इनके पीछे जो मनोविज्ञान है वह दोषपूर्ण है। स्वय टार्डे ने अनुकरण शब्द का इस्तेमाल कई अर्थों मे किया है और प्रायः इसका प्रयोग व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार के सभी रूपों के लिये हुआ है। इस हालत में यह स्पष्ट है कि "समाज

* "The Psychology of Suggestion" पृ० ३१०।

अनुकरण है" यह कथन इससे ज्यादा कुछ नही बताता कि समाज परस्पर व्यवहार करनेवाले व्यक्तियो की एक बडी सख्या से बनता है, जो कि एक साधारण सच्ची बात है। यह जरूरी है कि दूसरी बातो को समझाने का साधन बनाने के पहिले अनुकरण-शब्द का और अधिक विश्लेषण किया जाना चाहिए, और "निर्देश," "सहानुभूति" जैसे शब्दो से इसका सम्बन्ध समझना तो खास तौर से जरूरी है। कुछ मनोवैज्ञानिक इन तीनो को एक ही प्रक्रिया के क्रमश: गयात्मक (motor), ज्ञानात्मक (cognitive) और भावात्मक (affective) पहलू मानते है और उस प्रक्रिया को कभी-कभी मानसिक संक्रमण (mental induction) कहते है जो कि बहुत अच्छा नाम नही है। प्रोफेसर ग्रैहम वैलैज (Graham Wallas) ने इस बात की ओर इशारा किया है कि इन परस्पर भिन्न व्यवहारो के प्राय. एक ही उदाहरण दिये गये है। जैसे, यकायक डरने और भागने के आवेगो के लोगो मे फैलने को न केवल सहानुभूति की वजह होनेवाले सवेग-सक्रमण के उदाहरण के रूपमें पेश किया गया है, बल्कि अनुकरण के उदाहरण के रूपमे भी। इसका कारण यह है कि वस्तुत: उपर्युक्त स्थिति मे ऊपर की तीनो प्रवृत्तिया प्रकट होती है; खतरे की मौजूदगी का निर्देश आसानी से मिल जाता है, भय का सवेग सहानुभूति से फैल जाता है और दूसरो की गतियो का अनुकरण भी होता है। अब हम इनमे से प्रत्येक का विचार करेगे।

(क) अनुकरण—टार्ड की किताबों मे अनुकरण प्राय. एक अचेतन (unconscious) करीब-क़रीब प्रतिक्षेप (reflex) प्रक्रिया के रूप मे आता है और कई अन्य लेखक तो इसको सहज-क्रिया कहते है। हाल के तुलनात्मक मनोविज्ञान और ख़ास तौर से पशु-मनोविज्ञान को

देखने से पता चलता है कि इसमे वस्तुतः मानसिक विकास के परस्पर बहुत भिन्न स्तरों से सम्बन्ध रखनेवाली परस्पर बहुत भिन्न किस्म की प्रतिक्रियाओ की एक बड़ी तादाद शामिल है।

(१) सबसे पहिले, अनुकरण से उस चीज का मतलब हो सकता है जिसे कुछ लेखको ने जैविक अनुकरण कहा है। यह अधिकतर अचेतन होता है और इसमें जीव प्रायः अपनी ही जाति के एक जीव के सहज व्यवहार की नकल करते है। डा० मैकडूगल के अनुसार "किसी सहज-प्रवृत्ति के उत्तेजित होने पर होनेवाला एक पशु का व्यवहार अपने उन साथियो मे जो उसकी उत्तेजना की अभिव्यक्ति को देखते होते है, तुरन्त उसी तरह के व्यवहार को पैदा करता है। हरेक प्रमुख सहज-प्रवृत्ति का एक देखने का दरवाजा अथवा ग्रहण करनेवाला भाग होता है जो एक ही जाति के अन्य पशुओं में उसी सहज प्रवृत्ति के प्रकाशन से मिलने वाले ऐन्द्रिय सस्कारों (sense-impressions) को सूक्ष्म तरीके से ग्रहण करता है। उदाहरण के लिये, भय की सहज-प्रवृत्ति का एक ख़ास देखने का दरवाजा होता है जिसकी वजह से भय की रोने की आवाज मात्र मे भय पैदा हो जाता है, लड़ने की सहज-प्रवृत्ति का भी एक ऐसा ही दरवाज़ा होता है जो क्रोध की दहाड की आवाज मात्र से इस प्रवृत्ति को जाग्रत कर देता है।" इसी तरह से, डा० मैकडूगल के अनुसार प्रमुख सहज-प्रवृत्तियों मे शामिल न होनेवाले कुछ अन्य कार्य भी उत्तेजना का काम कर सकते है और दर्शको में अपने समान प्रतिक्रियाए पैदा कर सकते है। फिर भी कुछ लोगों का कहना है कि तथ्यो को देखते हुए इस तरह का सामान्य कथन उचित नही मालूम होता। यह स्पष्ट है कि लड़ने की सहज-प्रवृत्ति का जहा तक सवाल है क्रुद्ध आदमी को देखने से लड़ने की प्रवृत्ति के बजाय आश्चर्य ही पैदा हो

सकता है। इसी प्रकार, एक माता को अपने बच्चे को प्यार करते हुए देखकर देखनेवालों में भी प्यार का व्यवहार पैदा होना जरूरी नहीं है। जैसा कि थॉर्नडाइक (Thorndike) ने कहा है: "यह जरूरी नही है कि वे भी उस बच्चे को, उस माता को, एक-दूसरे को, अपने ही बच्चों को अथवा किसी और चीज को चूमने-चाटने लगें।" यह भी हो सकता है कि कई मामलों में व्यवहार की समानता सीधे अनुकरण का फल न होकर इस बात का फल हो कि सभी दर्शको के ऊपर एक ही उत्तेजना काम कर रही है और प्रत्येक में एक ही सहज-प्रतिक्रिया को पैदा कर रही है फिर, यह भी सम्भव है कि दूसरों की सहज-प्रतिक्रिया को देखना एक इशारे का काम करे और उस चीज की ओर ध्यान को खीचे जो साधारणतया उस प्रतिक्रिया को पैदा करती है। इसलिये सहज-प्रवृत्ति से पैदा होनेवाले व्यवहार को देखने के प्रभाव के बारे मे एक सामान्य नियम बना देना खतरे से ख़ाली प्रतीत नही होता। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि बहुत से कार्य ऐसे होते है जिनका अनुकरण थोडा-बहुत सहज और यहा तक कि प्रतिक्षेप की तरह भी मालूम होता है। थॉर्नडाइक के अनुसार ऐसे कार्यों मे सम्भवतया मुस्कराने पर मुस्कराना, दूसरो के हसने पर हंसना, चिल्लाना, जिस चीज को दूसरे देख रहे है उसको देखना, सुनना, जिस ओर दूसरे भाग रहे है उस ओर भागना, बकबक करना और चुप हो जाना, रेंगना, पीछा करना, हमला करना और फाड़ना, दबोचना इत्यादि शामिल है। इन सभी मामलो मे जिस कार्य का अनुकरण किया जाता है वह उत्तेजना (stimulus) होता है जो अनुकरण करनेवाले के अन्दर एक ऐसी गति-शृंखला को जन्म देती है जिसके लिये वह अपने वशानुक्रम-प्राप्त गठन की बदौलत पहिले से तैयार होता है। ज्यादातर मनोवैज्ञानिक इस बात के ऊपर एकमत

प्रतीत होते हैं कि अनुकरण करने की कोई एक सामान्य सहज-प्रवृति नहीं है, बल्कि इतना मात्र होता है कि कुछ सहज-प्रवृत्तियां, जिनमें से हरेक का अलग-अलग अध्ययन करना ज़रूरी है, अपने सदृश व्यवहार को दूसरों में पैदा करने के लिये उत्तेजनाओं का काम करने की शक्ति रखती है।

प्रोफेसर वुडवर्थ (Woodworth) ने इस बात की ओर संकेत किया है कि कुछ दृष्टान्त पहिली नजर मे अचेतन अनुकरण के प्रतिक्षेपतः होनेवाले दृष्टान्त मालूम होते है लेकिन वास्तव में वे ऐसे है नही। कभी-कभी फ़ुटबॉल के खेल मे दर्शक 'किक' लगाने जैसी गति करते हुए दिखाई देते है, उदाहरणार्थ जब 'फुलबैक' जानबूझ कर 'किक' लगाता होता है। यह बिल्कुल प्रतिक्षेप अनुकरण की तरह दिखाई देता है। लेकिन ज्यादातर दर्शक के पांव की गति खिलाड़ी के पाव की गति से पहिले हो जाती है और इस हालत में वह विशुद्ध अनु-करण नही हो सकता। इस तरह के मामलों में दर्शक का व्यवहार परिस्थिति को समझने पर और इस बात मे रुचि लेने पर निर्भर होता है कि एक खास गति होनी चाहिए; क्योंकि प्रायः ऐसी गति उस दल की ओर से की जाती है जिसकी जीत दर्शक चाहता है।

(२) ऐसा प्रतीत होगा कि दूसरों से एकरूप होने की, दूसरों के सदृश होने की एक प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति बच्चों में दिखाई देती है जो निश्चय ही अनुकरण करना पसन्द करते है और यह विभिन्न रूपों में जिन्दगी भर बनी रहती है। शायद यह यूथ-वृत्ति की ही एक विशिष्ट शक्ल है या सामान्य सामाजिक आवेगों का अंग है, और तुरन्त कार्यवाही करने की माग करनेवाली आकस्मिक परिस्थितियों मे किसी यूथ या समूह के सभी सदस्यों के व्यवहार की समरूपता का जीवन-रक्षा के लिये जो

स्पष्ट मूल्य होता है उससे इसकी व्याख्या हो जाती है। फिर भी इस तरह के अनुकरण सूक्ष्म बातों की दृष्टि से प्रतिक्षेप या सहज नही होते। इनमे कदम-कदम पर बुद्धि या अनुभव का प्रभाव होता है। इनका महत्त्व फैशन या रिवाजो को फैलाने इत्यादि मे होता है।

(३) इनके अलावा विचारपूर्ण अनुकरण भी होता है जिसका एक बड़े पैमाने पर सर्वोत्तम दृष्टान्त जापानियों के द्वारा योरोपियन पद्धतियो और विचारो का जानबूझकर अनुकरण होना है। टार्डे के दिये हुए अनेक दृष्टान्त स्पष्टतः इसी कोटि मे आते है।

(ख) निर्देश—निर्देश शब्द का इस्तेमाल आजकल अनुकरण के ज्ञानात्मक पहलू अर्थात् विचारो और विश्वासों के अनुकरण के लिये होता है। आज भी निर्देश के सच्चे स्वरूप के बारे में बहुत मतभेद बाकी है, तथा अलग-अलग लेखको ने इसकी जो परिभाषाए दी है वे अनेक और परस्पर-विरोधी है। फिर भी अग्रेजी की किताबो मे डा० मैकडूगल की परिभाषा को बारबार विवाद का आधार बनाया गया है, जो कि इस प्रकार है: "निर्देश विचार-प्रेषण का एक तरीका है जिसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति प्रेषित वाक्य को आश्वस्त होकर मान लेता है और यह भी उस वाक्य के तर्क-दृष्टि से, पर्याप्त आधार को समझे बिना। मै समझता हू कि अब सामान्य तौर से यह मान लिया गया है कि निर्देश-नीयता केवल निष्क्रिय ग्रहणशीलता की दशा नही है, बल्कि उसमे किसी सहज-प्रवृत्ति का या एक प्रबल संवेग से युक्त परस्पर सम्बन्धित विचारो का सक्रिय होना भी शामिल होता है जिसका फल यह होता है कि सब अन्य विरोधी विचार रुक जाते है और चेतना की धारा सक्रिय होने वाले विचारो की दिशा मे प्रवाहित होने लगती है। दूसरे शब्दो मे निर्देश-नीयता किसी सहज-प्रवृत्ति या संवेगात्मक ग्रन्थि (complex) के

सक्रिय होने और इसके फलस्वरूप विरोधी विचारो के विरुद्ध हो जाने के कारण होती है। इस प्रकार यह स्वय एक सहज-प्रवृत्ति सिद्ध नही होती बल्कि अन्य आवेगात्मक और सवेगात्मक ग्रन्थियो के व्यापार के ऊपर निर्भर रहती है।

अलग-अलग व्यक्तियों मे निर्देशनीयता की जो अलग-अलग मात्राएं होती है और एक ही व्यक्ति मे अलग-अलग परिस्थितियो मे उसकी जो अलग-अलग मात्राए दिखाई देती है उनका स्पष्टीकरण केवल यह मान कर ही किया जा सकता है। जैसा कि डॉ० हार्ट (Hart) ने साफ-साफ़ दिखा दिया है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यवहार के किसी रूप का मूल निर्देश मे बताना उसकी व्याख्या करना नही ह। हरेक व्यवहार के बारे मे हमारा यह जानना जरूरी है कि उसके मूल्य मे प्रबल सवेग से युक्त कौन विचार-ग्रन्थि है, व्यक्ति के अन्दर भावनाओ (sentiments) और आदर्शों का कैसा सगठन विद्यमान है और यह भी कि उनकी प्रोत्साहन देनेवाली या निरोध करनेवाली शक्तियो के रूप मे काम करने की सम्भावना है या नही। यह सही है कि निर्देश-नीयता की जो व्याख्याए दी गई है उनमें से कुछ-कुछ विशेष सहज-प्रवृत्तियो को आधार बनाती है। इस प्रकार डॉ० मैकडूगल के अनुसार वे सहज-प्रवृत्तिया है आत्म-गौरव और आत्म-लाघव की; डॉ० ट्रौटर ने यूथ-वृत्ति की ओर संकेत किया है और निर्देशनीयता के मात्रागत भेदो को निर्देशो का यूथ की आवाज के साथ एकीकरण करने की विभिन्न मात्राओ का परिणाम बताया है; अन्यो के मतानुसार निर्देशनीयता को प्रेरक शक्ति काम (sex) की सहज प्रवृत्ति से मिलती है, लेकिन यह ख्याल रखना चाहिये कि यहा काम-प्रवृत्ति को एक विस्तृत अर्थ मे समझा गया है। अब तक प्राप्त प्रमाणों के प्रकाश मे यह निष्कर्ष

निकालना उचित मालूम देता है कि निर्देशनीयता के कारण अलग-अलग मामलो में अलग-अलग भावनाएं और प्रवृत्तियां होती है। किसी एक मामले में निश्चय ही निर्देशनीयता व्यक्ति की सहज और सवेगात्मक प्रवृत्तियो के संगठन और उदात्तीकरण (organization and sublimation) की मात्रा के साथ बदलती और उस पर निर्भर रहती है और इस संगठन में अत्यधिक जटिल विचार, आदर्श और रुचिया शामिल रहती है, इसलिए उनकी ओर संकेत किये बिना निर्देश कही जानेवाली खाली एक सामान्य झूठी सहज-प्रवृत्ति का सहारा लेना बिल्कुल बेकार है।

(ग) सहानुभूति—नीति-विज्ञान और समाज-शास्त्र में सहानुभूति के प्रत्यय (notion) ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। लेकिन निर्देश और अनुकरण की तरह यह नाम भी कई अर्थ रखता है और कई तथ्य इसके अन्तर्गत आते है। सबसे पहिले, सहानुभूति से हमारा मतलब अनुभूति की सक्रामकता से रहता है, जैसे कि हसमुख लोगोंके समूह मे हम भी हसमुख हो जाते हैं। इस तरह की सहानुभूति ख़ास तौर से झुड में रहना पसद करनेवाले जानवरों की विशेषता है और डॉ० मैकडूगल के अनुसार "यह पशु-समूहो को एक दूसरे से बाधे रखनेवाला सीमेन्ट है।" मैकडूगल ने एक सामान्य नियम बनाया है जिसको उसके सवेगों के सहानुभूतिपूर्ण संक्रमण (sympathetic induction) का नियम कहा है, इस नियम के अनुसार किसी व्यक्ति का किसी सवेग को प्रकट करना एक उत्तेजना का काम करता है जो देखनेवालों के अन्दर सहज रूप से उसी सवेग को पैदा करता है। इससे ख़ास तौर से क्रोध और भय के फैलने का उल्लेखनीय तरीका समझ में आ जाता है। फिर भी इसमे सन्देह है कि जैसा डॉ० मैकडूगल ने बताया है इस तरह का

सामान्य नियम उचित भी है या नही। कम-से-कम यह कहना तो निश्चय ही सही नही है कि हम हमेशा जिस संवेग को दूसरों मे देखते है उसका ही अनुभव करते है। उदाहरण के लिये, किसी बच्चे को भयग्रस्त देखने से हम भय का अनुभव कर सकते है लेकिन साथ ही प्यार का भी। फिर, जिन मामलों मे संवेग का सीधा संक्रमण दिखाई देता है उनमें भी बारीकी से देखने पर यह पाया जा सकता है कि सम्बन्धित व्यक्तियो के ऊपर एक समान कारण असर डाल रहा है, जैसे, सभी एक ही चीज़ को देखकर संवेगाक्रान्त हो सकते है अथवा हो सकता है कि देखनेवाला किसी ऐन्द्रिय उत्तेजना से सीधा प्रभावित न हो रहा हो बल्कि परोक्षत: किसी पहिले के अनुभव से निर्मित विचार-सम्बन्धो (association of ideas) के जाग्रत होने से।

जैसा कि रिबट (Ribot)* और डॉ० मैकडूगल† ने साफ-साफ दिखाया है, यह ध्यान रखना जरूरी है कि इस पहिले अर्थ मे सहानुभूति दया, कोमलता, परोपकार इत्यादि से अलग चीज है। सहानुभूति किसी कोमल भाव के बग़ैर भी हो सकती है। वास्तव मे बहुत से लोग ऐसे होते है कि जब वे किसी की वेदना को देखते है तब जल्दी-जल्दी उस स्थान से दूर भागने की कोशिश करते है ताकि वहा रहने से सहानुभूति के कारण जो पीड़ा उनके अन्दर पैदा होती है उससे वे स्वयं को बचा सकें। सहानुभूति का दूसरा मतलब दूसरों के लिये किसी भाव या अनुभूति का उठाना हो सकता है जो कि दूसरों की तरह महसूस करने से भिन्न है। इस अर्थ में सहानुभूति वास्तव मे एक अकेला सवेग बिल्कुल नही है बल्कि

---

* "Psychology of the Emotions", पृ० २३० से आगे।
† "Social Psychology", पृ० ९६।

यह कई परार्थमूलक (altruistic) संवेगों का एक सामूहिक नाम है।

ऊपर के वर्णन से यह दिखाई देगा कि अनुकरण के नाम से ढीले-ढाले तरीके से पुकारे जानेवाले तथ्यों का दायरा बहुत बड़ा है जिनमें सहज-प्रवृत्ति, आदत और विवेक के तत्व विभिन्न अनुपातो में शामिल है। जो वस्तुतः अनुकरण है उसके समाज के निर्माण में एक आधारभूत महत्त्व का कारण होने के बारे में भारी सन्देह है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि फैशन, रीति-रिवाज इत्यादि को फैलाने का यह निश्चय ही एक साधन है और इस प्रकार यह समाज मे एकता पैदा करता है। इस तरह यह अनिवार्यतः रूढ़ि का रक्षक तत्व (conservative factor) है। समाज मे व्यवहार की एकता या समानता को पैदा करनेवाले दूसरे साधन भी है, जैसे, एक ही सहज-प्रवृत्तियो का सक्रिय होना और एक ही आदर्शो को मानना। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि समाज केवल "एक-जैसे लोगों के पैदा होने" पर निर्भर नही रहता बल्कि, और शायद यह ज्यादा महत्त्वपूर्ण है, ऐसे लोगो के पैदा होने पर भी जो अलग-अलग किस्म के काम कर सकें। कुछ भी हो, यह कहना कि "समाज अनुकरण है" वास्तव में एक नाम के अन्तर्गत परस्पर बिल्कुल भिन्न कई तत्वों को और व्यक्तियों के मध्य होनेवाली सहज से लेकर विवेकपूर्ण क्रिया-प्रतिक्रिया तक के विभिन्न रूपो को शामिल करने के बराबर है। निर्देश और सहानुभूति के अन्दर आनेवाले तथ्यों का दायरा भी बहुत विशाल है और सामाजिक जीवन में इनका महत्त्व निश्चय ही बहुत है। लेकिन इन्हें मानसिक और सामाजिक जीवन में विलक्षण तत्व मानना एक ग़लती मालूम पड़ती है। ये अलग-अलग मामलों में अलग-अलग संवेगात्मक और सहज-प्रवृत्तियों पर निर्भर होते

है और स्वयं सहज-प्रवृत्तिया शायद नही है। किसी तथ्य के बारे में यह कहना कि वह निर्देश या सहानुभूति के कारण है उसकी व्याख्या नही है।

३

तर्क और कृति-शक्ति का कार्य*

(The Role of Reason and Will)

आजकल जिसे "बुद्धिपरतावाद" (intellectualism) कहा जाता है उसके खिलाफ बहुत व्यापक प्रतिक्रिया दिखाई देती है और तर्क, इच्छा और सकल्प या कृति-शक्ति के खिलाफ आवेग (impulse) के महत्त्व पर जोर देने की प्रवृत्ति नजर आती है। विश्वास और ज्ञान के क्षेत्र मे हमारा ध्यान कई स्वीकृत धारणाओ के तर्कहीन होने की ओर खीचा जाता है और उनका मूल यूथ-वृत्ति और समूह के दबाव मे बताया जाता है। व्यवहार के क्षेत्र मे यह बताया जाता है कि हमारे कार्यो के प्रेरक मूलतः आवेग और सहज-प्रवृत्तिया है तथा विचार और तर्क का स्थान गौण है, जो हमे कार्यमे प्रवृत्त करने मे बिल्कुल-असमर्थ होते है

---

* यह अध्याय बहुत कुछ विचार की उस दिशा में चलता है जिसका अनुसरण प्रोफेसर हॉबहाउस ने अपने ग्रन्थ "The Rational Good" मे किया है। फिर भी उस ग्रन्थ के प्रकाशित होने से पूर्व यह अध्याय लिखा जाकर लगभग अपने वर्तमान रूप में पूरा हो चुका था। मेरी दलीलों पर प्रो० हॉबहाउस के अन्य ग्रन्थों का और प्रो० डाउज हिक्स (Dawes Hicks) के उपदेशों का भी बहुत प्रभाव है।

और सहज-प्रवृत्तियों के द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के लिये उपाय ढूंढ़ने तक ही सीमित रहते हैं। यह मत हाल के मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रन्थों से बहुत ज्यादा समर्थन प्राप्त कर चुका है, फिर भी यह याद रखना जरूरी है कि यह बिल्कुल नया नही है। रिबट जैसे ग्रन्थकारों ने इस मत को स्पष्टतया व्यक्त किया है। वह कहता है कि "चरित्र में आधारभूत चीजें केवल सहज-प्रवृत्तियां, आवेग, इच्छाएं और अनुभूतियां हैं, इनके अलावा और कोई चीज नहीं।" ह्यूम (Hume) ने बहुत पहिले कहा था कि "रीज़न (reason) 'पैशन' (passions) का दास है और ऐसा होना भी चाहिये; सेवा करने और आज्ञा पालन के अलावा कभी भी इसका कोई दूसरा काम नही हो सकता।" 'पैशन' से ह्यूम का मतलब ऐसी सभी आवेगात्मक क्रियाओं से था जैसी क्षुधा (appetite), इच्छा इत्यादि है और 'रीजन' से उस शक्ति का जो हमारे विचारों और आवेगों का मिलान (comparing) और व्यवस्था (arranging) करती है और इसलिए व्यवहार को प्रेरित करने की सामर्थ्य नही रखती।

यह बहुत दुःख की बात है कि इस तरह के मत का प्रचार करने वाले अनेक हाल के लेखकों ने यह नही बताया है कि 'रीज़न' अथवा तर्क से वे क्या समझते है। ऐसा लगता है कि वे 'रीजन' को आधार-वाक्यों (premises) से निगमन (conclusion) निकालनेवाली एक तरह की सूक्ष्म शक्ति मानते हैं और 'विल' कृति को एक विलक्षण क्रिया जो आवेगों के नीचे रहनेवाले कारणों से भिन्न प्रकार के कारणों के द्वारा सक्रिय होती है। यदि यह मत ठीक है तो तर्क और कृति के विरुद्ध आवेगो के कार्य को महत्त्व देने की प्रवृत्ति शायद उचित है; लेकिन यह देखना मुश्किल नही है कि इस "बुद्धिपरतावाद" के विरोधी वाद के ख़िलाफ़

उसी तरह की आपत्तिया उठाई जा सकती हैं जिस तरह की "बुद्धिपरतावाद" के खिलाफ़। इस विवाद के दोनों पक्षों की दलीलों मे दो आम दोष है: एक को कहा जा सकता है अनुभव के तत्व से तर्क के तत्व को पृथक् करने का दोष, और दूसरा दोष व्यक्तित्व को अलग-अलग इकाइयों मे तोड़ने की प्रवृत्ति तथा आत्म-चेतन व्यक्तित्व को समग्र रूप मे न देखने की असफलता के कारण है।

पहिले दोष के बारे मे यह कहा जा सकता है कि ज्ञान के इन्द्रिय-जन्य अनुभव से मिलनेवाले तत्वोको पहिली दृष्टि मे विचार की सगठन करनेवाली क्रिया से मिलनेवाले तत्वो से बिल्कुल भिन्न समझना स्वाभाविक मालूम होता है। इसका नतीजा यह होता है कि इन्द्रिय और विचार एक-दूसरे से बिल्कुल अलग और परस्पर विजातीय तक समझे जाने लगते है। इन्द्रिय वह है जो हमें अनुभव की कच्ची सामग्री देता है; दूसरी ओर विचार या तर्क वह शक्ति है जो स्वय अपने अन्दर से एक रहस्यात्मक ढग से उसूल पैदा करके उन उसूलो की रौशनी में इन्द्रियों से प्राप्त सामग्री की तुलना इत्यादि किया करती है। ज्ञान-मीमांसा (theory of knowledge) में यह मत ऐसी कठिनाइया पैदा करता है जिनसे पार नहीं पाया जा सकता और अन्त मे यह ब्रह्माण्ड के सही स्वरूप को समझने के साधन के रूप मे विचार या तर्क के मूल्य के बारे में बड़ी शका पैदा करता है। लेकिन वास्तव मे अनुभव और तर्क मे जो भेद है वह प्रकार का नही है बल्कि मात्रा का है। ज्ञान की शुरुआत से ही दोनो अवियोज्य रूप से घुले-मिले रहते है। यहां तक कि जानने का कम-से-कम विकसित रूप भी अनिबार्यत: भेद करने, तुलना करने और परस्पर सम्बन्धित करने का कार्य होता है। वास्तव में हमको कोई ऐसी चीज़ मिलती ही नहीं जो केवल दी हुई हो और जिस

पर विचार न हुआ हो। भेद करने (discrimination) और सम्बद्ध करने (correlation) की इस शक्ति के विस्तार से ही ज्ञान मे प्रगति होती है। सामान्य उसूलों का मूल्य केवल वही तक है जहां तक वे अनुभव की सामग्री को परस्पर सम्बन्धित करते है। लेकिन अनुभव और विचार के तत्व एक-दूसरे पर निर्भर होते है। सामग्री (data) और उसको स्पष्ट करनेवाले उसूलों के बारे मे हम कहते जरूर है; लेकिन सामग्री दी हुई मात्र नही होती, उसमें शुरू से ही विचार और तर्क के तत्व मौजूद रहते है। दूसरी ओर, विचारका अपने आप मे कोई अर्थ या मूल्य नही होता, अगर होता है तो तभी जब वह प्राप्त सामग्री को सम्बन्धित करता है। "विचार के बिना अनुभव अन्धा है और अनुभव के बिना विचार रिक्त है।"

यही बात संकल्प या कृति की भी है। अगर हम सचमुच कृति से हर तरह के आवेग और अनुभूति को निकाल सकें तो कृति के अन्दर कुछ भी बाकी नही रहेगा और तब जैसे एक सूने घर मे उसका शासन रहेगा। लेकिन वास्तव मे कृति से आवेग को अलग करना उतना ही गलत है जितना विचार से अनुभव को अलग करना। दूसरी ओर, आदमी के अन्दर छोटे-से-छोटा आवेग तक आत्म-चेतना (self-consciousness) की मौजूदगी से गहराई तक रूपान्तरित हो जाता है, और एक आवेग मात्र नही रहता। इसी तरह कृति भी एक विलक्षण और सरल क्रिया नही है, बल्कि एक प्रवृत्ति है जो आवेगों और इच्छाओं के अन्दर व्याप्त होती है, उनको एक दिशा देती है और यथार्थ मे आवेगों, इच्छाओं और अनुभूतियों पर ही उसका रूप निर्भर रहता है।

दूसरा दोष पहिले से बहुत कुछ जुड़ा हुआ है। यह चेतन

व्यक्तित्व को अलग-अलग इकाइयों का, जिनमें से प्रत्येक की अपनी शक्ति की मात्रा अलग-अलग है, संतुलन मानने से होता है। इस प्रकार हम सहज-प्रवृत्तियों और आवेगों को व्यक्तित्व पर बाहर से प्रभाव डालनेवाली शक्तियों के रूप में देखने लगते हैं, यद्यपि यह विचित्र बात है कि साथ ही व्यक्तित्व उन सहज-प्रवृत्तियों और आवेगों के अलावा कुछ नही है। यहां भी हम आवेगों को स्वयंभू (self-subsistent) तथा एक अन्य पृथक् सत्ता जिसे तर्क या कृति कहते हैं, के विरोधी के रूप में देखने लगते है। लेकिन निश्चय ही चेतन व्यक्तित्व इस प्रकार टुकड़ों में बंटा हुआ नही हो सकता। तर्क, अनुभव, कृति और आवेग आत्मा की अभिव्यक्ति के तरीके है, आत्मा के अपने को क़ायम रखने और अपना अस्तित्व प्रदर्शित करने की विधिया है। जो शक्ति इनमें इस्तेमाल होती है वह समग्र आत्मा की शक्ति है, जो निस्सन्देह कई शक्लें अख्तियार करती है और जैसे क्रिया आवेगात्मक या संकल्पात्मक होती है उसके अनुसार ही अपने लिए रास्ता ढूँढ़ लेती है, लेकिन फिर भी जो तत्वतः एक बनी रहती है। इसमे कोई शक नही है कि संघर्ष, विरोध भी होता है, लेकिन यह संघर्ष आत्मा के अन्दर ही होता है, आत्मा और किसी बाहरी चीज के मध्य नही। दूसरे शब्दो में, जीवन में सामंजस्य का अभाव इस तथ्य के कारण नही होता कि एक चीज़ जिसे तर्क कहते है दूसरी चीजों से जिन्हें आवेग कहते है, हार खा जाती है, बल्कि इस तथ्य के कारण कि आत्मा को आवेगों के एकीकरण या संगठन की उस मात्रा की प्राप्ति नही हुई है जिसकी प्राप्ति करना उनके अन्दर काम करनेवाले तर्क के आवेग (rational impulse) का कार्य है। तर्क और कृति आवेगों से पृथक् सत्ताएं नही हैं, बल्कि उनके अन्दर और उनके द्वारा काम करने

वाले तत्व है जो चेष्टा को उत्पन्न करनेवाली शक्ति के बहाव को सुनिश्चित दिशाओं में ले जाना चाहते हैं, जो दिशाएं बाद की विकसित अवस्थाओं में ठीक तरह से समझे हुए लक्ष्यों से रौशन रहती है।

ऊपर की दलील को हाल के मनोवैज्ञानिकों के लेखों से उल्लेखनीय समर्थन प्राप्त हुआ है। मैं समझता हूं कि अब यह माना जाने लगा है कि कृति (will) केवल चेष्टा (conation) का एक उत्कृष्ट रूप ही समझी जा सकती है, जो चेष्टा के निम्न रूपों पर निर्भर होती है और उनको अपने अन्दर समाविष्ट करती है, और कि चेष्टा के क्षेत्र में विकास ज्ञान के क्षेत्र में विकास के साथ-साथ चलता है। अपनी समस्या को विकास या उत्क्रान्ति के दृष्टिकोण से देखने पर हम कह सकते है कि ज्ञानात्मक विकास के प्रत्येक स्तर के अनुसार चेष्टात्मक विकास का एक स्तर होता है। इस प्रकार, प्रत्यक्षीकरण अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के सामने की चीज़ों की तात्कालिक चेतना के स्तर पर आवेग या सहज-क्रिया का स्तर होता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, आवेग या सहज-क्रिया में ज्ञान के तत्व होते हैं। सहज-क्रियाएं संवेदना के तुरन्त बाद होनेवाली गतियों के द्वारा सम्पन्न हो सकती है; इसमें उस समग्र परिस्थिति के सांवेदनिक तत्वों का अस्पष्ट-सा एकीकरण शामिल रहता है जिसके साथ गतियों की अनुकूलता रहती है और जिसकी आवश्यकताओंके अनुसार गतियों को बदलना होता है। उसमें बदली हुई परिस्थिति का धुधला-सा पूर्वज्ञान, लक्ष्य या प्रयोजन की एक धुधली चेतना भी शामिल रह सकती है, और अनुभूति का तत्व तो निश्चय ही रहता है। इस स्तर पर अगर आवेग को वश में करना सम्भव है तो यह अनुभूति के तत्वों के कारण ही सम्भव है। सुख की अनुभूति आवेग को बढ़ाती है जब कि दुःख की अनुभूति उसे रोकती है, तथा अनुभव से

सीखने मे समर्थ जानवरों में उसे बदलती है या मुख्यतया जीवन-रक्षा के हेतु के द्वारा निर्धारित किसी विशेष दिशा मे मोडती है।

इसके बाद हम उस स्तर पर आते है जिसे प्रोफेसर स्टाउट ने स्वतंत्र विचारों का स्तर कहा है, वह स्तर जिस पर मन वर्तमान से दूर जा सकता है, भूतकाल के अनुभव को याद कर सकता है और इस अनुभव के आधार पर शायद भविष्य का भी अन्दाज लगा सकता है। चेष्टा के स्तर पर इस अवस्था मे सप्रयोजन (purposive) क्रिया की शुरुआत होती है जिसे इच्छा (desire) कहा जा सकता है और जिसकी सर्वोत्तम परिभाषा शायद प्रो० हॉबहाउस के इन शब्दों मे मिलती है कि इच्छा विचार के द्वारा विशिष्टीकृत आवेग (impulse qualified by an idea) है। इसमें प्राप्तव्य लक्ष्य का पूर्वविचार रहना है। इस अवस्था मे केवल संवेदनाओ से क्रिया का पथ-प्रदर्शन या प्रारम्भ नही होता, बल्कि विचार से भी हो सकता है। फिर भी यह साफ रहना चाहिए कि इच्छा आवेग और अनुभूति से अलग और भिन्न प्रकार की चीज नही है। बल्कि इसके विपरीत, इच्छा विचारो से सक्रिय होनेवाला आवेग ही है।

यहा पर यह महत्त्वपूर्ण है कि हम भावनाओं (sentiments) के उस सिद्धान्त पर विचार कर लें जिसको पहिले मि० शैन्ड ने बनाया था और फिर डा० स्टाउट और डा० मैकड्गल ने अपनाया था। आवेग और संवेग स्वयं जटिल होते हैं, लेकिन आपस में संगठित होकर वे और भी जटिल हो जाते हैं, इनके संगठन को ही भावना का नाम दिया गया है। इस प्रकार भावना किसी चीज के इर्द-गिर्द रहनेवाले संवेगों का एक समूह है, उस चीज के प्रति अलग-अलग अवसरो पर अलग-अलग संवेगो की एक संख्या का अनुभव करने की एक जटिल

प्रवृत्ति है। देश-प्रेम इसी तरह की एक प्रवृत्ति है जिसका विषय अपना देश होता है। यह परिस्थिति के अनुसार आक्रमण करने या रक्षा करने के आवेग का, क्रोध या कोमलता के संवेग का अनुभव करने की एक प्रवृत्ति है। भावनाओं में ज्ञान, चेष्टा और अनुभूति के तत्व घनिष्ठ रूप से जुडे होते हैं। भावनाएं वास्तव मे प्रत्यक्षों और विचारो के संगठन होती है जिनके साथ तीव्र संवेगात्मक और सहज-प्रवृत्तियां जुड जाती है। मि० शैन्ड ने यह उल्लेख किया है कि भावनाओं के द्वारा आदमी अपने लिये ऐसे-ऐसे लक्ष्यों का निर्माण करता है जो सहज-प्रवृत्तियों के विशुद्ध जीवन-रक्षा के लक्ष्यों से भिन्न होते है। "आदमी के अन्दर जितनी भावनाएं बनती है उनमे से प्रत्येक नई भावना के साथ उसे एक नये भय की प्राप्ति होती है। अपने आप से प्रेम करते हुए, उसे अपनी ख्याति के जाने का भय होता है, सम्पत्ति या शक्ति के जाने का डर होता है, और जो उसे प्यार करते है उनके प्यार के चले जाने का डर होता है। ये सब भावनाओं के लक्ष्य है जिनका जानवरों में अभाव होता है। इन नये लक्ष्यों को पाने के लिये आदमी नये साधन प्राप्त करता है। डर के कारण आदमी को कई चीजे छिपानी पडती है। उसे अपने बुरे विचारों और कामों को गुप्त रखना पड़ता है। यहा स्थूल चीजों को छिपाने का कोई सहज या अर्जित तरीक़ा काम नही दे सकता। अतः वह चुप रहने, धोखा देने या झूठ बोलने का एक नया तरीका ईजाद करता है।" इस चल रहे प्रसंग की दृष्टि से यह ध्यान मे रखना चाहिए कि किसी भावना के विकास मे विभिन्न आवेगों, इच्छाओं और संवेगों का परस्पर सम्बन्ध और किसी वस्तु के इर्द-गिर्द उनका संगठन शामिल रहता है, तथा सामाजिक मनोविज्ञान के सबसे महत्त्वपूर्ण कार्यों में से एक यह बताना है कि कैसे समह या समाज इस तरह की भावनाओं

के विषय बन जाते है और अपने सदस्यों के व्यवहार, विचार और अनुभूतियों को प्रभावित करने लगते हैं। स्वयं भावनाओं का सगठित होकर ऊंचे किस्म की एकता का निर्माण करना केवल विचार के स्तर पर ही सम्भव है। ऐसा तब होता है जब आत्मा के एक स्थायी चीज होने की, अविच्छिन्न और एक होने की चेतना का उदय हो जाता है और जीवन के सामान्य उसूलों को बनाने तथा ऊंचे आदर्शो के अनुसार चलने की योग्यता आ जाती है। केवल इस स्तर पर ही हम कृति-शक्ति की बात कर सकते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कृति के कार्य को एक नये और विलक्षण कारण की उपज नही समझना चाहिए, बल्कि एक ऐसा कार्य मानना चाहिए जो हमारे स्वभाव के किसी गहराई में जड़ जमाये हुए विशाल संगठन से आता है, रुचियों के किसी अपेक्षाकृत स्थायी संगठन से आता है, जो कहा जा सकता है कि हमारे व्यक्तित्व अथवा आत्मा की स्थायी प्रवृत्ति बन गया है। यह भी निष्कर्ष निकलता है कि यह समस्या कि क्षणिक आवेगों पर विजय पाने के लिये जिस चालक शक्ति की ज़रूरत होती है वह कृति को कहा से नसीब होती है, हमारी अपनी बनाई हुई समस्या है और उस गूढ़ तरीक़े की उपज है जिससे कृति को समझा गया है। कृति सक्रिय करने की शक्ति से शून्य एक विचार मात्र नही है, बल्कि हमारे समग्र चेष्टात्मक स्वभाव का संश्लिष्ट रूप, एकता है। यह अनिवार्यतः एक संगठनकारी तत्व है, सामंजस्य की दिशा में किया जानेवाला प्रयास है, जो चेष्टात्मक और भावात्मक रुचियों के जटिल संगठनों के बीच और उनके द्वारा काम करता है, और इसकी जो शक्ति है वह हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व की शक्ति है। इसलिए कृति के अन्दर चेष्टा और ज्ञान बहुत ही घनिष्ठ होकर गुथे हुए हैं। प्रोफेसर स्टाउट के शब्दों में कहा जा सकता है कि

"ज्ञान उस प्रक्रिया को (कृति-जनित कार्य) एक निश्चित रूप देता है और चेष्टा के बिना उसका होना ही असम्भव है।" दूसरे शब्दों में, आवेग और अनुभूतियां कृति के कार्य के नीचे रहती है, लेकिन इन आवेगों और अनुभूतियों को परस्पर मिलाने या संगठित करने तथा एक खास रास्ते पर ले जाने का काम विचार और आदर्श करते है, व्यापक लक्ष्यों का निर्माण करनेवाली शक्ति करती है। इस प्रकार कृति का कार्य वह है जो सम्पूर्ण व्यक्तित्व या आत्मा से पैदा होता है, जो हमारे चरित्र को बनानेवाली गहरी रुचियों को प्रकट करता है, और कोई आदमी कितनी एकता अथवा संगठन की मात्रा प्राप्त कर चुका है यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह कार्य करने के किसी ऐसे संगठन-कारी उसूल को ढूढ़ पाने में सफल हुआ है या नहीं जो उसके जीवन को सार्थक बना सके, किसी ऐसे विशाल और दूरगामी लक्ष्य को चुन सका है या नही जो उसके सभी आवेगों में सामंजस्य स्थापित कर दे और उसकी सभी रुचियों को आत्मसात् कर दे। कहना न होगा कि यह इस बात पर भी निर्भर है कि जिसमें वह रहता है वह समाज कैसा है और उसकी संस्थाएं कैसी है तथा इस पर भी कि वह समाज अपने सदस्यों के लिये सामंजस्यपूर्ण विकास करने की दिशाओं को किस सीमा तक खोज पाया है। ऊपर के वर्णन से यह भी साफ़ हो जाना चाहिए कि कृति में आत्मा का काम जिस पर कि हाल के मनोवैज्ञानिक साहित्य में इतना जोर दिया गया है, क्या है, क्योंकि कृति कार्य में लगे हुए समग्र आत्मा के अलावा कुछ नहीं है। फिर भी कुछ लेखकों ने आत्मा के विचार को निर्णायक तत्व माना है। इसके ख़िलाफ़ डा० मैकडूगल ने आपत्ति उठाई है और वह इस आधार पर कि ख़ाली आत्मा के विचार का चेष्टा पैदा करने में कोई मूल्य नहीं है, और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं

कि कृति में मध्यस्थता करनेवाली आत्म-सम्मान की भावना (self-regarding sentiment) होती है और कि यह भावना सारे नैतिक विकास का हेतु और आधार है। फिर भी यह प्रतीत होगा कि कृति मे आत्मा का विचार अनिवार्य रूप से शामिल नही रहता, बल्कि प्रवृत्तियों का संगठन शामिल रहता है जो कि स्वयं आत्मा ही है और निश्चय ही चेष्टा पैदा करने की शक्ति रखता है। इसमे सन्देह नही है कि एक संगठनकारी तत्व के रूप मे आत्म-सम्मान की भावना का बहुत महत्त्व है, लेकिन इससे जिस एकता की प्राप्ति होती है वह बहुत ही सकीर्ण और सहानुभूति से हीन हो सकती है। हम मुश्किल से ही ऐसे आदमी की तारीफ करेंगे जो भलाई इसलिए करता है कि वह अपने आप से खुश रह सके। व्यापक उद्देश्यों के प्रनि अनुराग से इससे अधिक एकता की प्राप्ति हो सकती है, और ऐसे उद्देश्यों को स्वयं में मूल्यवान होना चाहिए, केवल इसलिए उनका मूल्य नही होना चाहिए कि वे आत्म गौरव की सहज-प्रवृत्ति को तृप्त करते है। इस बात का पहिले ही विचार किया जा चुका है, इसलिए विस्तार मे जाने की जरूरत नही है।

अब हम कह सकते है कि तर्क के व्यावहारिक पहलू यानी कृति का कार्य लक्ष्यो के लिये साधन ढूढ़ने से ही पूरा नही हो जाता। इसका कार्य है आवेगों को विशाल और संगतिपूर्ण लक्ष्यों के अधीनस्थ करके उनमे एकता कायम करना। इस प्रकार इसका मार्ग दिखाने और संगठन करने का महत्त्वपूर्ण काम हो जाता है। हम इसको विकास और सगठन करनेवाले तत्व के रूप में, सामंजस्य के प्रयास के रूप में देख सकते है। मानसिक विकास के शुरू की अवस्थाओं में जो एकीकरण होता है वह बहुत थोड़ा और सीमित होता है। शायद सामान्य नियंत्रण की दिशा में

सहज-प्रवृत्तिया पहिला क़दम है, लेकिन उनका संगठन बहुत ही अपूर्ण होता है। तर्क सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से तब दिखाई देता है जब हम प्रयोजन के स्तर पर और आत्म-चेतना के स्तर पर पहुंचते है। यह ज्ञान और व्यवहार दोनों को एकता की ओर ले जाने का आवेग है। सिद्धान्त की दुनिया मे तर्क अनुभव के अलग-अलग तत्वो को जोड़ने का और किसी एकता प्रदान करनेवाले उसूल मे उनका आधार खोज निकालने का प्रयास करता है। व्यवहार की दुनिया मे तर्क जीवन को एक सामंजस्यपूर्ण रूप देने की कोशिश करता है। फिर भी यह सोचना गलत है कि तर्क कुछ लोकोत्तर उसूलों को लेकर चलता है और उनको अनुभव की सामग्री के ऊपर लादता है। इन उसूलों का मूल्य वही तक है जहा तक वे अनुभव की सामग्री से प्रसूत होते है और उसको सार्थक बनाते है। इसी प्रकार कृति भी जो कि तर्क का व्यावहारिक पहलू है, एक ऐसी चीज नही है जो आवेगो का संघर्ष होने पर बीच-बचाव करती है और स्वयं अपने अन्दर से प्राप्त लोकोत्तर उसूलों के आधार पर आदेश देती है, बल्कि अनिवार्यत: ऐसे उसूलों और लक्ष्यों की रोशनी मे आवेगों के एकीकरण का नाम है जो हमारे व्यक्तित्व की गहराई में पनपते है। इसलिए जो लोग तर्क और कृति के खिलाफ़ दलील देते है वे इन्हे कुछ लोकोत्तर किस्म की चीज़ के रूप मे देखते है। जो तथ्य उनके दिमाग में होते है वे तर्क-नाम से पुकारी जानेवाली एक चीज और आवेग-नाम से पुकारी जानेवाली अन्य चीज़ों के संघर्ष के परिणाम नही है। सच्ची कठिनाई यह है कि समाज मे आदमी ने एकता और सगठन की जिस मात्रा को प्राप्त किया है वह अब भी बहुत थोड़ी है। फलत: जिस चीज की हमे जरूरत है वह है तर्क की कम नहीं बल्कि ज्यादा मात्रा, व्यक्ति और समाज के सामंजस्यपूर्ण विकास के हेतुओं की अधिक जानकारी।

अब हम सामाजिक मामलों में तर्क और कृति का क्या कार्य है, इस बात पर आते है। यह समस्या आम तौर से पहिली नजर में सामाजिक आन्दोलनों मे सिद्धान्त और व्यवहार के सम्बन्ध की समस्या के रूप में सामने आती है। लेकिन यह एक ऐसा सवाल है जिसका निर्णय सामान्य मनोवैज्ञानिक आधारों पर नही हो सकता। इसमें सन्देह नहीं है कि कुछ सामाजिक सिद्धान्त तो व्यापक रूप से फैली हुई आवेगात्मक प्रवृत्तियों की धुधली छायाएं मात्र हैं और कुछ प्रबल सवेगात्मक प्रवृत्तियों के "यौक्तिकीकरण" (rationalizations) मात्र हैं, जिनके सच्चे स्वरूप को अस्पष्ट तरीक़े से समझा गया है। इसके विपरीत, कुछ सिद्धान्त वस्तुतः पथ-प्रदर्शन करनेवाले और जोरदार मालूम पड़ते है, इस दृष्टि से कि उन्होंने आपस में मेल न रखनेवाले आवेगो और विचारों के अस्त-व्यस्त समूह को, जो कि विचार की सगठनकारी क्रिया के अभाव में प्रभावहीन और निरर्थक बना रहता, एक क्रम और निश्चित रूप दे दिया है। उदाहरण के लिये यह कहना बिल्कुल ठीक है कि फ़ास के विश्वकोषकारों (French Ency-clopædists) का प्रभाव इस तरह का था और असन्दिग्ध रूप से उनके जनतंत्र, समाजवाद इत्यादि के सिद्धान्तों का आशातीत प्रभाव रहा। बहुत प्रायः यह होता है कि एक अकेले वाक्य, जैसे "दुनिया के मजदूरो! एक हो जाओ", "लड़ाई को खत्म करने के लिये लड़ाई", मे अनुभूतियों, विचारों और आवेगों का ढेर का ढेर शामिल हो जाता है और उसकी जो प्रतिक्रिया होती है वह आश्चर्य में डालनेवाली होती है। इसलिए समाज में सिद्धान्त के स्थान की बात पर विस्तार से समाज-शास्त्रीय छानबीन होनी चाहिए और एक-एक सिद्धान्त का निर्णय उसके गुणों पर निर्भर होना चाहिए।

समाज में तर्क का क्या स्थान है, यह समस्या उससे भी गहरी है जितनी कि छान-बीन की उस दिशा से मालूम होता है जिसकी ओर अभी-अभी संकेत किया गया है। तर्क का आवेग अपनी सभी अवस्थाओं में अपने प्रति सचेत नहीं होता। जैसा कि हम देख चुके है, यह सामंजस्य पैदा करने या एकता लाने का एक प्रयास है और स्वयं अपने बारे मे सिद्धान्त बनाने की अवस्था से बहुत पहिले सक्रिय हो जाता है। इसलिए यह हो सकता है कि सामाजिक संस्थाओं में इस तरह का एकता पैदा करनेवाला तत्व मौजूद तो हो लेकिन वे उस अवस्था में कभी-कभी या शायद बिल्कुल भी न पहुंची हों जिसमें वे अपने विकास के कारणों पर जानबूझ कर नियंत्रण रखें। ऐसा भी हो सकता है कि उनका तर्क-युक्त होना तब अधिक स्पष्ट हो जब वे अपने जीवन के उस महत्त्वपूर्ण मोड़ पर पहुंचती जाती है। जो कुछ भी हो, यह दिखाना मुश्किल नही मालूम पड़ता कि सामाजिक संस्थाएं एकतामय जीवन की दिशा मे एक प्रयास है, सामंजस्य पैदा करने का एक प्रयोग है, और विस्तृत समाज-शास्त्रीय छानबीन से शायद यह मालूम पड़ जायगा कि यह प्रयास लगातार न भी चल रहा हो फिर भी धीरे-धीरे अपने दायरे और पूर्णता को बढ़ा रहा है। सामाजिक दर्शन (social philosophy) के दृष्टिकोण से अर्थात् इस दृष्टिकोण से कि समाज को कैसा होना चाहिए, देखने पर संस्थाओं का कार्य यह मालूम पड़ता है कि वे व्यक्तित्व के सामंजस्यपूर्ण विकास की दिशाएं मालूम करें और उन तरीक़ों का पता लगावें जिनसे उस विकास के लिये आवश्यक परिस्थितियां पैदा हो। लेकिन 'चाहिए' (ought) और 'है' (is) के भेद पर ध्यान रखना चाहिए, और सामाजिक संस्थाएं जैसी हैं और रही है, जिसकी जानकारी हमको इस बात के लिये सावधान करेगी कि मानव-जाति ने बौद्धिक

एकता की जो मात्रा उपलब्ध की है उसको बढ़ाकर नहीं दिखाना चाहिए। सामाजिक संस्थाए किसी एक व्यक्ति के दिमाग़ की उपज नही हैं, और न आम तौर से वे साफ-साफ सोचे हुए प्रयोजनों के मूर्त रूप होती हैं। बल्कि वे "प्रयास और भूल (trial and error) की तरह के प्रयोग मालूम पड़ती है, जीवन के असामंजस्यों और समस्याओं का हल ढूँढ़ने की कोशिशे प्रतीत होती है। उनके जो प्रयोजन हैं वे प्राय: परस्पर बहुत विरोधी होते है और एकता की जिस मात्रा को वे प्राप्त कर लेती है वह आबादी के एक भारी अनुपात की अत्यावश्यक मागों को ठुकरा कर ही प्राप्त होती है। अब यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हमारे सामने जो सवाल है उसका पूरा-पूरा जवाब देने के लिये सब सामाजिक सस्थाओं की विस्तार के साथ जाच करना आवश्यक है और यह जांच यह निश्चय करने की दृष्टि से कि वे प्रयोजन क्या हैं जिनको पूरा करनेके लिये उनका अस्तित्व है, कहां तक वे एक सामजस्यपूर्ण और अनेकमुखी जीवन को सम्भव बनाती हैं, और क्या वे जिन साधनो को इस्तेमाल करती हैं वे ज़्यादती से भरे हुए तो नही है। कहना न होगा कि इस तरह की जाच यहां सम्भव नहीं है। सामाजिक सस्थाओं (institutions) की सामान्य प्रकृति का अधिक विस्तार मे विचार बाद में किया जायगा, लेकिन शायद यह दिखाने के लिये काफी कहा जा चुका है कि यदि हम तर्क या विचार को ग़लती से एक गूढ़ शक्ति मात्र न मानें, तो हमे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सामाजिक मामलों में इसका कार्य सबसे ज्यादा महत्त्व रखता है। मि० बर्ट्रेन्ड रसेल (Bertrand Russell) ने कहा है, "अन्त में विचार की शक्ति किसी भी अन्य मानवीय शक्ति से बढ़कर है।......सही किस्म का विचार दुर्लभ और मुश्किल होता है, फिर भी निर्बल नही होता।" कुछ

भी हो यह स्पष्ट है कि हमे इस युक्ति से कि संस्थाएं इतनी तर्कपूर्ण नहीं होती जितनी वे दिखाई देती है, यह निष्कर्ष निकालने का कोई अधिकार नही है कि तर्क का सहारा लेना व्यर्थ है। इसके विपरीत हमारा काम यह है कि हम अपनी संस्थाओ की बराबर स्पष्ट आलोचना करते रहें, उनमे रहनेवाले विरोध और अनैक्य के तत्वों को ढूढ़ते रहे, और उनका उन तर्कयुक्त नियमो की रौशनी में पुनर्गठन करते रहे जिनका आधार अनेकमुखी और सामंजस्यपूर्ण जीवन के लिये आवश्यक परिस्थितियों की पर्याप्त जानकारी है।

अभी तक हमारा वर्णन सहज-क्रियाओं, कृति और तर्क के, जैसा कि हमने इनको व्यक्ति के अन्दर पाया है, विश्लेषण पर आधारित रहा है। लेकिन अब हमारे सामने यह समस्या है कि सामाजिक समूहों में एक ऐसा मन पैदा होता है या नही जो मूलतः वैयक्तिक मनो से बना हो फिर भी उनसे भिन्न और ऊपर हो, और कि वह स्वय अपने ही खोजे जा सकनेवाले नियमो से शासित होता है या नही। यह स्पष्ट है कि समाज मे तर्क, कृति और प्रयोजन के स्थान के बारे मे हमारा मत उस निष्कर्ष से बधा हुआ ओर उससे प्रभावित होता है जो हम सामाजिक मन के स्वरूप के बारे मे प्राप्त करते है और सामाजिक समूहो की एकता किस तरह की होती है इस समस्या से भी। अतः अब हम इन समस्याओ के विस्तार में उतरते है।

४

सामाजिक अथवा सामूहिक मन का सिद्धान्त

सामाजिक समूहों की प्रकृति की समस्या के ऊपर दो बिल्कुल विपरीत दृष्टिकोणो से विचार किया गया है। एक तरफ विचारको का वह दल है जिसकी प्रवृत्ति सामाजिक समूह की व्याख्या उसको बनानेवाली इकाइयों की भौतिक परिवेश के साथ प्रतिक्रिया तथा उनकी आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया और मिलने-जुलने के विशेष तरीक़ो की मदद से करने की ओर है। दूसरी तरफ अन्य विचारकों का एक दल है जो यह सोचता है कि बजाय इसके कि किसी समूह की प्रकृति को उसका निर्माण करनेवाले व्यक्तियों की मदद से समझा जाय, व्यक्तियो को ही उनके सामाजिक समूह की मदद से समझा जा सकता है। यह दलील पेश की जाती है कि व्यक्ति अपने स्वभाव के लिये उस सामाजिक परिवेश का ऋणी है जिसमें वह बड़ा होता है, और किसी एक विशेष सामाजिक समूह की विशेषताएं उसके सामूहिक जीवन की परिस्थितियो की उसके पहिले के इतिहास की और अन्य समूहो से उसके सम्बन्ध की उपज होती है (Durkheim, Gumplowicz)।

स्पष्ट है कि इन दोनों मतों के ख़िलाफ़ गम्भीर आक्षेप किये जा

सकते है। पहिला मत व्यक्ति को अनुचित रूपसे पृथक् करके देखता है और इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य को भूल जाता है कि ज्यों ही कोई समूह कुछ स्थायी बन जाता है और उसके अन्दर नियमित और स्वीकृति-प्राप्त संस्थाओं तथा एक परम्परा का विकास हो जाता है, त्यों ही उसे कुछ अपनी ही विशेषताएं प्राप्त हो जाती है जो व्यक्तियों की अनुभूतियों और विचारों पर असर डालने लगती हैं और उनकी क्रियाओंको ढालने लगती है, और इस तरह कहा जा सकता है कि व्यक्तियों की तुलना मे किसी हद तक समूह का अपना अलग एक जीवन और चरित्र होता है। दूसरे मत मे यद्यपि सच्चाई का एक बड़ा अश मौजूद है, फिर भी इसको जिस तरीक़े से पेश किया गया है उससे व्यक्ति तुच्छ मालूम पड़ता है, और इसके अलावा इसके ख़िलाफ़ यह आपत्ति की जा सकती है कि सामाजिक समूहों की एकता को किस तरह का समझा जाय, इस बारे में कोई स्व-सगत व्याख्या अभी तक सामने नही आई है। लेकिन सच बात यह है कि जिस विरोध की रूप-रेखा यहां दी गई है वह झूठा विरोध है और व्यक्ति तथा समाज की प्रकृति को एक दूसरे से पृथक् करके देखने का फल है। किसी सामाजिक समूह की जो एकता होती है उसका स्पष्टीकरण उसकी इकाइयों की प्रकृति से नही हो सकता, क्योंकि अपने सामाजिक समूह से अलग कर दिये जाने पर उन इकाइयों का कोई अस्तित्व ही नही रहता। जैसे पहिले ईंटे होती है और बाद में उनका ढेर बनता है, वैसे ही पहिले व्यक्ति हों और बाद में उनसे एक सामाजिक समष्टि बने, ऐसी बात नही होती। जो सम्बन्ध व्यक्तियों को आपस में बांधे रखते हैं वे आन्तरिक (intrinsic) होते हैं और वास्तव में व्यक्ति की गठन के अंग होते है। लेकिन यदि व्यक्तिवादियों का मत दोषपूर्ण है तो इसके

विरुद्ध मत का बल बजाय व्यक्ति और समाज की जिस व्याख्या को यह स्वीकार करता है उसमे होने के उसमें है जिसे यह अस्वीकार करता है। यद्यपि यह ठीक है कि व्यक्ति समाज से अलग कुछ नहीं हैं अथवा यह कहा जायगा कि व्यक्तित्व का विकास साथ ही साथ सामाजिकता का भी विकास है, फिर भी समाज व्यक्तियों के सम्बन्ध के अलावा कुछ नही है और व्यक्तियों में एक ऐसा केन्द्रीय तत्व होता है जो प्रत्येक में विलक्षण और दूसरों के लिये अज्ञेय होता है।

विरोधी सम्प्रदायों के झगड़े से हम कम से कम इतना तो अवश्य ही सीखते है कि व्यक्तियो का एक-दूसरे के साथ अन्दरूनी और जरूरी सम्बन्ध है और कि समाज एक कृत्रिम (artificial) रचना नही है, एक ऐसा यांत्रिक साधन मात्र नही है जो एकान्त में अपनी भरपूर जिन्दगी बिता सकने मे समर्थ माने जानेवाले व्यक्तियों के समूह को एक साथ रखने के लिये बनाया गया हो। यह भी आसानी से देखा जा सकता है कि व्यक्तियों को एक साथ रखनेवाले जो सम्बन्ध है वे अनिवार्यतः मानसिक किस्म के हैं, विचारों, अनुभूतियों, इच्छाओं, भावनाओं, प्रयोजनों पर निर्भर है। इसलिए क्या हम समाज की जगह सामाजिक मन कह सकते है? बहुत-से लोगों को यह शब्दो का सवाल मात्र मालूम पड़ेगा, और इस तरह के शब्दों का इस्तेमाल करना कोई आपत्तिजनक नही लगेगा, बशर्ते कि इनको साफ़-साफ़ सामूहिक (collective) एकता के अर्थ में लिया जाय न कि द्रव्य की एकता (substantive unity) के अर्थ में, और बशर्ते कि यह याद रखा जाय कि व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध से जो सामूहिक इकाई बनती है वह परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हुए उन व्यक्तियों से ज्यादा वास्तविक और मूल्यवान् नहीं है। लेकिन इस समस्या को लेकर

जो वाक्-युद्ध हुए हैं उनके इतिहास से यह आसानी से दिखाया जा सकता है कि सामाजिक-मन (social mind) पद का प्रयोग बहुत ही खतरनाक है अथवा इसमें बहुत दूर तक महत्त्व रखनेवाली बातें छिपी हुई है। पहिली बात यह है कि समाज के लिये मन शब्द का प्रयोग करने का फल यह हुआ है कि समाज पर एक ऐसी काल्पनिक एकता का आरोप कर दिया गया है जो उसमें है नहीं, जिससे व्यक्ति को और छोटे-छोटे समूहों को तुच्छ माना जाने लगा तथा समाजके हित और व्यक्तियों के हित के बीच विरोध पैदा हो गया। इसमें सन्देह नहीं है कि सामाजिक मन के सिद्धान्त को माननेवाले यह मानते है और जोर देकर मानते है कि सामाजिक मन का अस्तित्व केवल उन व्यक्तियों के मन में है जिनसे समाज बनता है, लेकिन इन सिद्धान्तों के जो वर्णन किये गये है उनमें हम बार-बार यह देखते है कि व्यक्ति का सामूहिक एकता मे विलय कर दिया गया है, यद्यपि, यह काफी विचित्र लगेगा कि उस सामूहिक एकता के बारे में हम ऐसी बात बहुत कम कह सकते है जिसे हम व्यक्तिगत मन के बारे में जानते है। इससे भी ज्यादा उल्लेखनीय शायद यह है कि व्यक्तियों का सामाजिक एकता मे विलय कर देने और उस एकता को एक पुरुष का रूप (personification) दे देने का—सामाजिक मन के सिद्धान्तों मे यह प्रवृत्ति बहुत है—फल प्रायः यह होता है कि समाज के हित और उसको बनानेवाले सब व्यक्तियो के हित के बीच एक ख़तरनाक दीवार खड़ी हो जाती है। तब यह कल्पना कर ली जाती है कि किसी एक ख़ास कार्य से समाज के सदस्यों का हित न होने पर भी समाज का हित हो सकता है। लेकिन ऐसा मानना निश्चय ही भ्रामक और शरारतपूर्ण है। ख़ाली सामूहिकता में कोई अच्छाई नहीं है। सभी मूल्य (values) व्यक्तियों

के लिये मूल्य हैं और समष्टि का हित सभी हितों की तरह व्यक्तियों का हित है, वह व्यक्तित्व के लिये महत्त्व रखनेवाली कोई चीज़ है, ऐसी चीज है जो व्यक्तित्व का विकास करती है और मनुष्य के अन्दर की किसी सम्भावना को वास्तविक बनाने का काम करती है। जो अरस्तू (Aristotle) ने सुख के बारे में कहा है वही हित (good) के बारे मे हम भी कह सकते है, अर्थात् यदि व्यक्तियो को उसकी प्राप्ति नही होती तो समष्टि को भी उसकी प्राप्ति नही होती। इसका मतलब यह नही है कि जिन चीजो को कोई राष्ट्र मूल्यवान् मानता है, जैसे उसकी सस्कृति और संस्थाए, वे किसी एक पीढी के व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक टिकाऊ नही है। निश्चय ही वे अधिक टिकाऊ है। लेकिन इस सस्कृति और इन संस्थाओं को पीढ़ी-दर-पीढ़ी व्यक्तियो से नया जीवन मिलता रहता है और उनके द्वारा नये सिरे से इनका अर्थ लगाया जाता है; इसके अलावा सस्कृति और सस्थाओं का अपने आप में कोई अस्तित्व नही है। समष्टि का हित उन सदस्यों के हित से भिन्न और उस की विरोधी कोई चीज नही हो सकती, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी उस समष्टि का निर्माण करते रहते है, और इतिहास से यह पता चलता है कि जब-जब व्यक्ति और समष्टि के हितो का विभाजन किया गया, तब-तब इसका उद्देश्य लोगो से कुछ माग करने का और कुर्बानिया करवाने का रहा है, सच्चे वैयक्तिक मूल्यों के बाहर जिसका कोई औचित्य नहीं है।

दूसरी बात यह है कि सामाजिक मन का सिद्धान्त एकतन्त्र (autocracy) और कुलीनतन्त्र (aristocracy) के जनतन्त्र (democracy) के वेश में हमारे सामने आने का साधन बन जाता है। यद्यपि सामाजिक मन श्रेष्ठ होता है और कभी ग़लती नही कर

सकता, फिर भी वह अपनी बात स्वयं नहीं कह सकता। इस ईश्वर-तुल्य चीज़ को एक दूत की और एक ऐसे आदमी की ज़रूरत होती है जो उसकी बात को लोगों को समझा सके, लेकिन बात समझानेवाला सिद्धान्त के मुताबिक यह दावा करता है कि वह लोगों के मन को अभिव्यक्त कर रहा है। इस प्रकार रूसो (Rousseau) के "Moi Commun" (सामान्य आत्मा) को एक होशियार विधान-निर्माता (legislator) की जरूरत होती है जो हमे यह बतावे कि लोगों की इच्छा क्या है; और डा० मैकडूगल तक जो कि सामूहिक चेतना (collective consciousness) की धारणा का विरोध करते हैं, यह मानने में नही हिचकते कि लोक-मत को, जो कि एक होशियार और कभी गलती न करनेवाला मार्ग-दर्शक है, लोगों के सबसे अच्छे दिमाग ही सबसे अच्छी तरह समझा सकते है, और यह प्रतीत होता है कि सबसे अच्छे दिमाग ही यह निर्णय कर सकते है कि वे सबसे अच्छे है। इसी तरह सामूहिक मन के सिद्धान्त का सहायक तात्विक कृति (real will) का सिद्धान्त भी अर्थात् ऐसी कृति का सिद्धान्त जो किसी एक व्यक्ति की वास्तविक कृति (actual will) नही है, अनिवार्यतः कुलीनतत्रीय है; क्योंकि "हमारी अपनी कृति का सच्चा आन्तरिक रूप" थोड़े से विवेक-सम्पन्न लोगों के कहने के अनुसार वही है जो होना चाहिए। इस तरीक़े से राज्य का जो भी रूप मौजूद हो उसको दृढ़ और खतरे से सुरक्षित बना दिया जाता है और व्यक्ति की आज़ादी में किसी भी सीमा तक हस्तक्षेप करने को इस आधार पर उचित क़रार दिया जाता है कि ऐसे हस्तक्षेप का प्रयोजन "उसको आज़ाद बनाना" है, और व्यक्ति स्वयं वस्तुतः उसकी कामना करता है।

तीसरी बात यह है कि सामाजिक मन का सिद्धान्त, जैसा कि अब

तक मालूम हो जाना चाहिए, प्रायः समाज को एक देवता का रूप दे देता है और उस पर एक ऐसी महिमा और शक्तिमत्ता का आरोप कर देता है जो व्यक्तियों को कर्तव्य का आदेश देनेवाले नैतिक नियम (moral law) से भी ऊपर की चीज है। इन्ही सिद्धान्तों का एक दुष्परिणाम यह है कि समाज या यहा तक कि राज्य (state) भी व्यक्ति मे ऊपर की (super-individual) और व्यक्ति से नीचे की (sub-individual) चीज दोनों एक साथ बन जाता है। वह आध्यात्मिक तत्व की सर्वोच्च अभिव्यक्ति का मूर्त रूप है, फिर भी वैयक्तिक और आध्यात्मिक मूल्यों के माने हुए प्रतिमान उस पर लागू नही होते।

चौथी बात यह है कि समाज या राज्य के इस प्रकार देवता बन जाने से मौलिक और गहरी रूढ़िवादिता (conservatism) आ जाती है और मौजूदा हालत को उचित सिद्ध करने की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है। जब एक बार ऐसे मन की धारणा बन जाती है जो व्यक्ति के मन से बहुत ही श्रेष्ठ है और जो प्रायः शुरू से ही तर्कपूर्ण मान लिया जाता है, तब इसका अवश्यम्भावी फल यह होता है, भले ही यह अनजान में हो, कि उसके प्रति आज्ञाकारिता का और यहा तक कि पूजा का भाव भी पैदा हो जाता है तथा व्यक्ति के अन्दर इससे इस देवता का किसी भी तरह विरोध करने की अनिच्छा पैदा हो जाती है। यह मौलिक रूढिवादिना हेगल (Hegel) के सभी अनुयायियों में दिखाई देती है, ख़ास तौर से जब वे प्रतिरोध (resistance) की समस्या के बारे मे लिखते हैं (टी० एच० ग्रीन इसका अपवाद है) और डा० मैकडूगल मे भी यह स्पष्ट है।

इन कारणों से सामाजिक मन के सिद्धान्तों की मनोवैज्ञानिक

बुनियाद की जांच करने का और यह निर्णय करने का बहुत महत्त्व है कि वे समाज और व्यक्ति के स्वभावों को समझने में वाक़ई हमारी मदद करते हैं या नहीं।

यह दुःख की बात है कि सामाजिक एकता के स्वरूप की समस्या पर अनुभवमूलक (empirical) या आगमनात्मक (inductive) पद्धति से अर्थात् अलग-अलग क़िस्म के सामाजिक समूहों का वर्गीकरण और वर्णन करके विचार नहीं किया गया है। यह साफ है कि प्राप्त एकता की मात्रा और वे हेतु जिन पर अलग-अलग सामाजिक समूहों में यह एकता निर्भर करती है, बहुत ही परिवर्तनशील हैं, और इन विभिन्न हेतुओं के विश्लेषण से ऊपरी सामान्य कथनों (generalization) का होना रुक जाता। सामान्यतः सामाजिक मन का सिद्धान्त बडे-बडे और जटिल समूहों, जैसे राष्ट्रों के राज्य है, को दृष्टि में रखकर बनाया गया है, और मैं सोचता हूं कि इस तथ्य से इस समस्या की कठिनाई और बढ़ गई है। मोटे तौर से कहा जाय तो दो तरह के सिद्धान्त हैं, पहले के मुताबिक़, जिसका शायद सबसे उत्तम उदाहरण ऐेस्पिनाज़ (Espinas) और डर्कहीम (Durkheim) जैसे विचारकों ने प्रस्तुत किया है, समाज वाक़ई एक सामूहिक चेतना होता है जिसमें व्यक्तियों की मानसिक प्रक्रियाएं घुल-मिलकर संयुक्त हो जाती है। इस सिद्धान्त का एक ज्यादे तर्क-संगत रूप वुन्ट (Wundt) में मिलता है जो समाज के अन्दर व्यक्ति और छोटे-छोटे समूहों के लिये गुंजाइश रखते हुए भी यह विश्वास रखता है कि एक तरह का "नवीन संश्लेषण" (creative synthesis) भी होता है जिसके फलस्वरूप व्यक्तियों के मन और कृति से ऊपर एक सामाजिक मन और कृति का विकास होता है, इन सब सिद्धान्तों को इस तथ्य से बहुत मदद मिलती है

कि इन्होंने एक आत्मा नामक द्रव्य में विश्वास करना छोड़ दिया है और आत्मा को केवल मानसिक प्रक्रियाओं की एक सन्तान, शृंखला माना है जिसमें कुछ अविच्छिन्नता (continuity) होती है। उनका कहना है कि इस तरह की अविच्छिन्नता सामूहिक मानसिक प्रक्रियाओं में भी दिखाई जा सकती है।

दूसरी तरह का सिद्धान्त, जो कि जर्मन अध्यात्मवादियो (idealists) ने और इंगलैंड में उनके अनुयायियों ने प्रस्तुत किया है और जिसका विस्तार ख़ास तौर से उन अनुयायियों ने सामान्य कृति (general will) के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे किया है, समाज में व्यक्तियों की मानसिक प्रक्रियाओं के परस्पर संयुक्त होने के ऊपर उतना आधारित नहीं है जितना कि मन के अन्दर की चीजो के आवश्यक सामाजिक स्वरूप पर। कहा जाता है कि व्यक्ति का आत्मा वास्तव में उसके दूसरों से जो सम्बन्ध होते हैं उनसे बना होता है, अपने स्वरूप के लिये उनका ऋणी है, कि उसके जो विचार और विश्वास होते हैं, जिन प्रयोजनों को वह अपना लक्ष्य बनाता है, वे समाज की बदौलत हैं, कि उसका चरित्र जिस समाज में वह रहता है उसके वातावरण के द्वारा ढाला जाता है। इस सम्प्रदाय के लेखक प्राय: एक वास्तविक सामूहिक चेतना में विश्वास करने का विरोध करते है; लेकिन उनके वर्णनों में सामान्यतया यह देखा जाता है कि वे चोरी-चोरी और शायद अनजान में मानसिक वस्तुओं की एकता से अस्तित्व और प्रक्रिया की एकता में चले जाते है; और ऐसी हालत मे इस तरह के सिद्धान्त को पहिले सिद्धान्त से अलग करना मुश्किल हो जाता है। डा० मैकडूगल का सिद्धान्त जैसा कि उनके ग्रन्थ "Group Mind" (समष्टि-मन) में प्रस्तुत किया गया है, इन दोनों तरह के सिद्धान्तों के बीच की स्थिति में

है। इस अध्याय में ऐस्पिनाज, डर्कहीम और मैकडूगल के सिद्धान्तों का आलोचनात्मक वर्णन किया जायगा। सामान्य कृति की समस्या पर बाद मे विचार किया जायगा।

१. ऐस्पिनाज* के मत से समाज एक सामूहिक चेतना ("conscience multiple") है या रखता है। विचार और परम्पराएं आपस में मिलती है और इस प्रकार आत्मा-आत्मा के बीच आदान-प्रदान की प्रक्रिया पैदा होती है जिसके फलस्वरूप अनेक चेतनाएं घुल-मिलकर केवल एक बन जाती हैं।

उसका विचार है कि जो विलक्षण अनुराग एक ही समूह के सदस्य एक-दूसरे के प्रति महसूस करते है उसको बग़ैर यह माने नही समझा जा सकता कि हरेक सदस्य का आत्मा सभी अन्य सदस्यों के आत्माओं को अपने मे समाविष्ट करता है। चेतना कोई अपने मे पूर्ण, अविभाज्य चीज नहीं है, बल्कि दूसरों से मिल सकने और विभाजित हो सकने वाला एक तत्व है। चेतना के दो आवश्यक घटक (constituents), सवेदना और आवेग, अधिक से अधिक मात्रा मे दूसरों को ज्ञात हो सकते है। संवेदनाएं इशारों के जरिये एक चेतना से दूसरी में पहुंच जाती है, और सवेग और आवेग नेता के इशारे पर क्षण भर में फैल जाते है, तथा इन सवेगों की शक्ति का समाज के सदस्यों की संख्या और उनके परस्पर सलाग (cohesion) या एकता से सीधा अनुपात होता है। ऐस्पिनाज का विचार है कि सामान्य विचार और उसके द्वारा ज्ञात आवेग प्रकृति की शक्तियों की तरह है जो फैल सकती हैं, विभाजित हो सकती हैं और दूर जा सकती हैं, जो कभी-कभी गुप्त रह

* Des Sociétés Animales.

सकती है और कभी-कभी केन्द्रीभूत होकर सक्रिय हो सकती है। इसमें शक नही है कि व्यक्ति के आत्मा के अन्दर दूसरों को ज्ञात हो सकने वाले इन विचारों और आवेगों के अलावा भी कोई चीज होती है, लेकिन यह कोई चीज "स्कूल-मेन" (Schoolmen—मध्ययुगीन योरोपियन विचारकों का एक दल) का रहस्यमय द्रव्य (substance) नही है, बल्कि यह विचारों और अचेतन प्रवृत्तियों की एक पृष्ठ-भूमि से बनी होती है, जो वंशानुक्रम के विभिन्न प्रभावों और बाहरी परिस्थितियों के कारण प्रत्येक व्यक्ति मे एक खास शक्ल लिये हुए होते है, तथा शारीरिक गठन भी उसी चीज मे शामिल होती है, जो व्यक्ति-व्यक्ति की विचित्र परिस्थितियों के कारण एक खास तरीके से निर्मित होती है। लेकिन यह पृष्ठ-भूमि कोई ऐसी चीज नहीं है जो एक व्यक्ति को दूसरे से वाकई अलग करे, क्योंकि व्यक्तियों की सहज-प्रवृत्तियां और शारीरिक बनावट यद्यपि सीधे दूसरों के द्वारा नहीं जानी जा सकती, फिर भी उनका स्वरूप तत्वत: जातिगत (racial) होता है तथा उनका परिवर्तन और विकास जातिगत कारणों के द्वारा निर्धारित होता है। इसके अलावा, समाज की अपनी अलग ही सत्यता या सत्ता (reality) होती है, क्योंकि सत्यता की एक अन्तिम कसौटी है संवाद या संगति (coherence or consistency) और सामाजिक बातों में व्यवस्था होती है और वे नियम का पालन करती हैं; एक दूसरी कसौटी है अपने लिये अस्तित्व (existence-for-self) और समाज को अपनी चेतना रहती ही है। "यह चेतना एसी है जो अपने में और अपने ही लिये अस्तित्व रखती है।"

मैंने ख़ास तौर से ऐस्पिनाज़ के इस सिद्धान्त का वर्णन इसलिए किया है कि सामाजिक मन के अधिकतर सिद्धान्तों की जड़ में जो

भ्रान्तियां है उनमें एक का प्रदर्शन इससे साफ़-साफ़ और निश्चित रूप से हो जाता है। मनोविज्ञान और ज्ञान-मीमांसा (epistemology) दोनों मे हाल मे जो विवाद हुए है उनसे चेतना की प्रक्रियाओं (processes) और चेतना की अन्तर्वस्तुओं (contents) मे भेद करने का महत्त्व साफ-साफ़ प्रकट होता है। मेरा विचार है कि आजकल की प्रवृत्ति मानसिक शब्द को प्रक्रियाओं तक, जिसका अनुभव होता है उसे छोडकर अनुभव की प्रक्रिया तक सीमित रखने की है। इसका फल यह है कि मानसिक केवल अनुभव के क्षण मे होनेवाला व्यक्तियों का तात्कालिक अनुभव करना (immediate experiencing) ही है। इसके विपरीत, अन्तर्वस्तुएं मानसिक नही है, रचना या आधार की दृष्टि से मन के अंग नही हैं। ऐस्पिनाज ने प्रक्रिया और अन्तर्वस्तु मे बहुत गोलमाल किया है। एक जगह पर उसने कहा है कि मानसिक **व्यापार** बाहरी चिह्नों से जो लोग मौजूद हैं उनकी चेतना मे पहुंच जाते है और दूसरी जगह पर कहा है कि **विचार** या संवेदनाए दूसरे मन मे पहुंच जाते है। कौन-सी चीज पहुच जाती है? प्रक्रिया या अन्तर्वस्तु? भीड़ में जो बातें दिखाई देती हैं उनके लिये मानसिक प्रक्रियाओं के वस्तुत· संयुक्त होने की कल्पना करने की जरूरत नही है। मानसिक प्रक्रियाएं केवल व्यक्तिगत ही हो सकती हैं, लेकिन उनमे से कुछ एक ख़ास तरीके से एक ख़ास परिवेश की विशेषता लिये होती है, मौजूदा प्रसंग मे यह परिवेश लोगों की भीड़ है। जब एक भीड़ में भय या क्रोध पैदा होता है तो निश्चय ही उसमें सभी को एक ही भय या क्रोध का अनुभव नही होता। होता असल में यह है कि भीड़ में हरेक आदमी के अन्दर निर्देश लेने और अनुकरण करने की शक्ति बढ़ जाती है, उत्तरदायित्व लेने और आलोचना की शक्ति घट जाती है, लेकिन इतने पर भी अनुकरण,

सहानुभूति इत्यादि की प्रक्रियाएं निश्चय ही व्यक्तिगत प्रक्रियाएं होती हैं।

फिर, हम पूछ सकते है कि ऐस्पिनाज की सत्ता की दूसरी कसौटी क्या वाकई लागू होती है? क्या समाजों को अपनी चेतना होती है? यदि हा, तो सामाजिक मन जो कुछ सोचता है उसका निश्चय करने में कठिनाई क्यों होती है? मै सोचता हूं कि यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि मामाजिक मनोविज्ञान के लेखक जहां बार-बार एक मन की दूसरे को जानकारी होने की बात करते है वहा उपन्यासकार और मानव-स्वभाव का सूक्ष्म निरीक्षण करनेवाले दूसरे लोग विभिन्न मनो के एकाकीपन और आपसी दूरी पर तथा एक को दूसरे के बारे मे प्राय: जो गलत ज्ञान होता है उस पर आश्चर्य करते है। इसमें सन्देह नही है कि आदमियों मे बहुत-सी आध्यात्मिक बातें एक होती है, लेकिन ये बातें अन्तर्वस्तुओं और मूल्यों के क्षेत्र मे आती है, प्रक्रियाओं या व्यापारो के क्षेत्र मे नहीं, और जहा तक उनका विभिन्न व्यक्तियों को अनुभव होता है वहां तक वे व्यक्ति-व्यक्ति मे अलग और विलक्षण होती है।

जैसा कि सिम्मेल* (Simmel) ने साफ-साफ दिखाया है, हमें उन वास्तविक मानसिक प्रक्रियाओं मे जिनसे रिवाज, कल्पित कथा या भाषा इत्यादि की पैदाइश होती है और उनकी अन्तर्वस्तु मे भेद करना जरूरी है। यह अन्तर्वस्तु निश्चय ही किसी एक व्यक्तिगत मन की उपज मे बहुत बढ़कर है, लेकिन यह इसलिए कि यह मूल्य के क्षेत्र की चीज़ है और उमका स्वरूप तत्वत: सार्वभौम (universal) है।

---

* Uber das Wesen der Sozialpsychologie, "Archiv für Sozialwissenschaften," Bd. 26, P. 285.

२. डर्कहीम का सामाजिक मन का सिद्धान्त उन दो चीजो के भेद पर आधारित है जिनको उसने वैयक्तिक विचार (individual representation) और सामूहिक विचार (collective representation) कहा है। उसके मत से किसी आधारभूत आत्मा या द्रव्य को मानने की जरूरत नही है। मानसिक जीवन विचारो के प्रवाह (stream of representations) से बनता है, चाहे वह वैयक्तिक हो चाहे सामूहिक।

वैयक्तिक चेतना का मूल आधार संवेदनाओं (sensation) मे मिलता है। ये कई मस्तिष्क-कोशाओं (cerebral cells) की परस्पर-क्रिया की उपज होती है, लेकिन यह उपज एक नई चीज, अपने किस्म का एक नया सश्लिष्ट रूप होती है जिसमे मूल तत्व परस्पर जुड़ने की क्रिया से बिल्कुल बदल जाते है। डर्कहीम ने इस चीज पर ध्यान दिया है कि सवेदना एक अकेली कोशा की उपज नही होती बल्कि कइयो की जिनकी परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। इस तरह से पैदा होनेवाली संवेदनाएं आगे स्वयं भी आपस में सयुक्त होकर प्रतिमाओं (images) को पैदा कर सकती है, प्रतिमाएं वैयक्तिक विचारों को पैदा कर सकती है और इस तरह यह प्रक्रिया आगे भी जारी रह सकती है। जिस तरह से वैयक्तिक संवेदनाओं की आधार-भूमि एक-दूसरे से सम्बन्धित अनेक कोशाओं का समुदाय होता है, उसी तरह सामूहिक संवेदनाओं की आधार-भूमि समाज में व्यक्तियों का समुदाय होता है। सामूहिक संवेदनाओं से एक सामूहिक आत्मा या चेतना बनती है जो कि अपने क़िस्म का एक नया संश्लेषण होता है, और इसकी उत्पत्ति अन्त में वैयक्तिक चेतनाओ के सयोग और मिलन से अर्थात् वैयक्तिक विचारों के संयोग से होती है। "सामूहिक विचार

एक बहुत विशाल सहयोग की उपज होते है जिसका विस्तार न केवल देश मे होता है बल्कि काल में भी; सामूहिक विचारों के निर्माण के लिये असख्य व्यक्तियों ने अपने विचारों और भावनाओं का सम्बन्ध, एकीकरण और संयोग किया है, उनकी ख़ातिर लम्बी पीढ़ियों ने अपने अनुभव और ज्ञान का सचय किया है। अत: उनमें एक ख़ास बौद्धिक प्रक्रिया केन्द्रीभूत हुई है जो कि व्यक्तिगत प्रक्रिया की अपेक्षा अनन्त परिमाण में सम्पन्न और अधिक जटिल है।" इस सिद्धान्त में सवेदनाओं का स्वतन्त्र अस्तित्व माना गया है और उन्हें आधार से कुछ अलग कल्पित किया गया है। वे अंशत. स्वतन्त्र है और परस्पर आकर्षण और विकर्षण की शक्ति रखती है, तरह-तरह के सश्लेषण बनाने की शक्ति रखती है जो उनकी स्वाभाविक समानताओं के द्वारा और सामाजिक ढाचे के द्वारा तो हमेशा ही निर्धारित होते है। डर्कहीम का दावा है कि सामूहिक संवेदनाओं की कुछ विलक्षण विशेषताएं होती है। सबसे पहिले वे वैयक्तिक चेतना के बाहर होती है। व्यक्ति के अन्दर सामाजिक मन का केवल एक कण (parcelle) ही रह सकता है। उदाहरण के लिये, विज्ञान एक विशाल सहयोग की उपज होता है और कोई भी चीज़ जो व्यक्ति के मन के अन्दर समा सकती है उससे बढ़कर होता है। धार्मिक विचार व्यक्ति के मन मे बाहर से आते है और वे किसी हद तक स्वतन्त्र होते है। इसी तरह सामाजिक आन्दोलन अथवा उस किस्म के "दौर" जिनसे लोग आत्म-हत्या के लिये प्रेरित होते है, किसी व्यक्तिगत चेतना के बाहर होते है।

दूसरी विशेषता यह है कि सामूहिक संवेदनाओं का व्यक्तिगत सवेदनाओं से प्रकार की दृष्टि से अन्तर होता है। "समूह अपने सदस्यों की अपेक्षा, यदि वे समूह से पृथक् हों, बिल्कुल भिन्न तरीक़े से सोचता,

काम करता और महसूस करता है।" इस तरह व्यक्तियों के एक समूह में होने से एक नई सत्ता अपने किस्म का एक नया मानसिक व्यक्तित्व (psychical individuality) पैदा होता है जिसकी सवेदनाओं की अन्तर्वस्तु वैयक्तिक सवेदना की अन्तर्वस्तु से भिन्न होती है। इसके अतिरिक्त हरेक समूह का अपनी आदतों, ज़रूरतों के साथ-साथ अपना विशिष्ट रूप भी होता है जो उसके सदस्यों की संख्या, एक प्रदेश के ऊपर उनके रहने की व्यवस्था, परस्पर सम्पर्क करने के तरीको के स्वरूप और संख्या के अनुसार बदलता रहता है।

तीसरी विशेषता यह है कि सामाजिक मन वैयक्तिक मन से श्रेष्ठ होता है, ऐसा डर्कहीम का दावा है। उसका विचार है कि सामूहिक चेतना मानसिक जीवन का सबसे ऊंचा रूप है, क्योंकि वह चेतना की चेतना होती है। वह नैतिक दृष्टि से व्यक्ति से ऊपर होता है और निश्चय ही धार्मिक पूजा की सच्ची चीज है। ईश्वर दैवी रूप में समाज ही है; "समाज सच्चा ईश्वर है।"

अन्तर्वस्तु और रूप दोनो की दृष्टि से वैयक्तिक मन समाज अथवा सामाजिक मन का ऋणी है। डर्कहीम से, वैयक्तिक सवेदनाओं की अन्तर्वस्तु ठीक-ठीक क्या है, इसके बारे मे एक निश्चित कथन प्राप्त करना मुश्किल है। मालूम पड़ता है कि वे देह से सम्बन्धित अनुभव है। इन अनुभवों के अलावा बाक़ी सबके लिये व्यक्ति सामाजिक परिवेश का ऋणी है। रूप (form) के बारे में डर्कहीम का दावा है कि मन जितने भी प्रत्ययों का उपयोग करता है, जैसे काल, देश, परिमाण, कारणता, सबका सामाजिक मूल होता है। "प्रत्यय सामाजिक सत्ता के विभिन्न पहलू होते है; वर्ग (class) का प्रत्यय शुरू-शुरू मे मानव-समूह के प्रत्यय (concept) से अलग नही था; काल के प्रत्यय का

आधार सामाजिक जीवन की नियमित गति है, समाज का जिस प्रदेश में निवास होता है वह देश के प्रत्यय के लिये सामग्री जुटाता है; सामूहिक शक्ति कार्यकारी शक्ति (efficient force) के प्रत्यय का आदि रूप था, जो कि कारणता (causality) के प्रत्यय का एक आवश्यक तत्व है" (V. R. 440)।

डर्कहीम ने विचार (representation) शब्द का जो प्रयोग किया है उसमें भी उसी तरह की अनेकार्थकता छिपी हुई है जिसकी ओर हम पहले ही ऐस्पिनाज़ के सिद्धान्त के प्रसग में ध्यान खीच चुके है। सवेदना से (presentation) मतलब चेतना (ज्ञान) की प्रक्रिया का हो सकता है अथवा उसकी अन्तर्वस्तु का भी अर्थात् उस प्रक्रिया के फलस्वरूप जिसकी हमको चेतना होती है उसका। यह निश्चय करना मुश्किल है कि एक वैयक्तिक मन की चेतना की प्रक्रिया किस अर्थ मे अपने से भी अधिक प्रारम्भिक अवस्थाओं की संयोग या उपज कही जा सकती है। ऐसा मालूम होता है कि डर्कहीम चेतना की अवस्थाओं के संयोग के बारे में उस मत का अनुसरण कर रहा है जो हमें वुन्ट में भी मिलता है। लेकिन वैयक्तिक मन के अन्दर इस तरह का सयोग चाहे हो चाहे न हो, क्या प्रमाण है यह सिद्ध करने का कि वैयक्तिक मनों का भी इस प्रकार संयोग हो सकता है? ····यह स्पष्ट है कि जैसे व्यक्ति के मस्तिष्क मे कोशाओं की भौतिक अविच्छिन्नता रहती है इस तरह की अविच्छिन्नता वैयक्तिक मनों में बिल्कुल नहीं होती, और डर्कहीम ने उक्त सयोग का कोई ऐसा प्रमाण भी नही दिया है जिसकी अनुभव से परीक्षा की जा सके। सच्चाई यह मालूम पड़ती है कि जब संयोग की बात की जाती है तब इशारा वास्तव में अन्तर्वस्तुओं की ओर होता है। इन्ही की स्वतन्त्र सत्ता मानी जाती है और इन्हीं मे अपनी-

अपनी समानताओं के अनुसार परस्पर संयुक्त होने की शक्ति की कल्पना की जाती है। इससे अन्तर्वस्तुओं की स्थिति के बारे मे एक दार्शनिक समस्या पैदा होती है जिसका हल यहां सम्भव नही है। प्रोफ़ेसर डॉज़ हिक्स* का मत है, और इसे मैं भी मानता हूं, कि ऐसी अन्तर्वस्तुओं के चेतना की प्रक्रिया से स्वतंत्र अस्तित्व को मानने का हमें कोई अधिकार नही है, तथा उनके संयोग की बात करना बिल्कुल ही बेमानी है, अत: अनेक वैयक्तिक मनों की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया मानने का प्रामाणिक होना सन्देह की चीज़ है। इसमें सन्देह नही है कि मन एक दूसरे पर निर्भर होते है, एक मन दूसरे मनों की क्रियाओ से प्रभावित होता है, लेकिन यह प्रभाव परोक्ष रूपसे होता है। जो विचार दूसरे लोगों के है या पहिले रहे हैं वही भाषा या सकेतों की मदद से एक मन के अन्दर दुबारा पैदा किये जा सकते है, और एक मन से उन्ही साधनों के द्वारा दूसरों के आदर्शों और प्रयोजनों को स्वीकार कराया जा सकता है और उनकी प्राप्ति के लिये उसे प्रेरित किया जा सकता है। शायद संयोग या परस्पर-क्रिया जैसे शब्द जव मनों पर लागू किये जाते है तब उनका बिल्कुल कोई मतलब नही रहता।

डर्कहीम के सिद्धान्त के ख़िलाफ एक दूसरी और शायद उतनी ही मौलिक आपत्ति यह है कि यदि उसे सच्चाई के साथ लागू किया जाय तो इसका फल यह होगा कि व्यक्ति का पूरी तरह लोप हो जायगा और वह सामाजिक मन मे विलीन हो जायगा। ऊपर से लगता है कि वैयक्तिक मन "उन सब मानसिक अवस्थाओं से बना है जो केवल हमसे

*"The Basis of Critical Realism." "Proceedings of the Aristotelian Society, 1916-17."

और हमारे व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं से सम्बन्ध रखती है" (R. M. XI. 46)। लेकिन निस्सन्देह हमारा अपना ज्ञान भी सामाजिक तत्वो पर निर्भर है, और हमारी देह से सम्बन्धित मानसिक अवस्थाएं भी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष करने पर निर्भर है जिसका स्वरूप बिल्कुल सामाजिक होता है, इस अर्थ में कि प्रत्यक्षीकरण स्मृति और अनुमान पर निर्भर होता है जो दूसरों की शिक्षा और सामान्य प्रभाव के फल होते है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अगर ठीक-ठीक कहा जाय तो वैयक्तिक विचार नाम की कोई चीज़ नही हो सकती और इसीलिए वैयक्तिक मन भी नहीं हो सकते, और यह ऐसा मत है जिस पर डर्कहीम अनजाने पहुंच जाता है। व्यक्तित्व के अन्तर केवल दैहिक अनुभूति के अन्तर के फल हैं। मन व्यक्ति की देह के अन्दर मूर्तिमान सामूहिक चेतना मात्र है। "शरीर एक दूसरे से भिन्न है और उनका अस्तित्व देश और काल के अलग-अलग अंशों मे होता है, इसलिए उनमें से हरेक एक विशेष केन्द्र होता है जिसके आस-पास सामूहिक विचार प्रतिफलित होते है और अपने-आपको अलग-अलग रंगो मे रगते है।" जो कुछ भी हो व्यक्ति के अन्दर नये विचारों को पैदा करने की शक्ति से इनकार किया जाता है। यह अन्तर्वस्तुओं के वास्तवीकरण (अवस्तु को वस्तु बना देने की आदत) का और मन को प्रक्रिया और व्यापार के दृष्टिकोण से देखने की उपेक्षा कर देने का परिणाम है। अन्तर्वस्तुएं अनिवार्यतः सार्वभौम होती है, लेकिन प्रक्रियाएं वैयक्तिक के अलावा और कुछ नही हो सकती। अगर मैं और आप एक ही बात सोच रहे हैं या एक ही उद्देश्य को प्राप्त करने की कोशिश कर रहे है तो इस वजह से हम दो व्यक्तियों के बजाय एक नही हो जाते। डर्कहीम का प्रत्ययों के बारे में जो मत है उसमें भी दो मौलिक कठिनाइयां हैं। पहिली यह है

कि जिस तरह से उसने प्रत्ययों के इस्तेमाल का सामाजिक आधार बताया है उसमें मुझे समस्या को हल करने के बजाय हल को मान लेना दिखाई पड़ता है। हमारे समाज के विचारों मे ये प्रत्यय पहिले से समाविष्ट है और तब यह कहने से कि उनका ही दूसरों में विस्तार किया जाता है, उनका मूल मालूम करने की मौलिक समस्या बग़ैर हल के रह जाती है। दूसरी, ऐसा प्रतीत होता है कि इस कठिनाई की जड इस तथ्य मे मिल सकती है कि डर्कहीम कारणता इत्यादि को प्रत्यय अर्थात् सामान्य विचार मानता है जिसका फल यह होता है कि वह उनके सामाजिक मूल पर जोर देता है, लेकिन अगर हम उनको प्रक्रिया की विधियों अर्थात् उन तरीकों के रूपमें देखें जिनसे मन अपने अनुभव को संगठित करता है, तो उनको वैयक्तिक मन की रचना का आवश्यक अंग मानने मे हमें कोई दिक्कत नही होगी।

सामूहिक और वैयक्तिक सवेदनाओं की अन्तर्वस्तुओं के भेद के बारे मे डर्कहीम का मत बिल्कुल अस्पष्ट है और अभी-अभी जिस कठिनाई का हमने उल्लेख किया है और जो वैयक्तिक सवेदनाओं के लिये कोई स्थान पाने की कठिनाई है उसको देखते हुए आशा भी यही थी। इस तथ्य से कि व्यक्ति समूह में जो व्यवहार करते है वह उससे भिन्न है जो वे अकेले होने पर करते है, यह बिल्कुल सिद्ध नही होता कि खाली एक जगह इकट्ठे होने से एक नया मन पैदा हो गया है। अस्त-व्यस्त समूह जैसे भीड़ और व्यवस्थित समूह जैसे संघ इत्यादि मे कुछ खास तरह के हेतु काम करने लगते हैं जिनसे उक्त भेद पूरी तरह से समझ में आ जाता है। अस्त-व्यस्त भीड़ में दूसरी बातों के साथ-साथ व्यक्ति की निर्देशनीयता बढ़ जाती है, जबकि एक व्यवस्थित संघ में सामूहिक चिन्तन और विचारों के आदान-प्रदान की व्यवस्था होती है।

इसलिए दोनों में जो बातें पैदा होती हैं उनका आपस में फ़र्क होता है और इनका उनसे फ़र्क होता है जो व्यक्तियों के अकेले चिन्तन करने से पैदा होती है। लेकिन निश्चय ही जिन बातों की ओर संकेत किया गया है उनको समझने के लिये किसी अति-वैयक्तिक (super-individual) मन की ज़रूरत नही है।

अन्त मे, डर्कहीम और उसके साथियों ने सामाजिक मन को जो श्रेष्ठता प्रदान की है उसके बारे मे पूछा जा सकता है कि उसका प्रमाण क्या है? अगर सामाजिक मन का अस्तित्व है तो हमारे पास कोई ऐसा सीधा तरीक़ा नही है जिससे हम जान सकें कि वह क्या सोचता है, और अगर हम समाज मे काम करनेवाली मानसिक शक्तियों के ताने-बाने का विचार करते है तो हम देखेंगे कि वह तत्वों का एक झुण्ड मात्र है जिसमे प्रयोजनों की वह एकता नही मिलती, लक्ष्यों का वह स्पष्ट ज्ञान नही दिखाई देता जो सबसे अच्छे वैयक्तिक मन मे दिखाई देता है। जिसको जन-साधारण का अध्यात्मवाद (popular idealism) कहते है उस पर ज़रा विचार कीजिये—यह एक बहुत ही धुधली आध्यात्मिक उच्चता की अनुभूति का बहुत ही कमजोर विचारों से मेल है—और इसकी इतिहास-प्रसिद्ध महान् व्यक्तियों की स्पष्ट दृष्टि और दृढ़ भक्ति से तुलना कीजिये। नतीजा सामाजिक मन के बिल्कुल भी पक्ष में नही होगा: और यह कहने मे कोई डर नही है कि अगर हम महा-मनस् (super mind) के दार्शनिक भ्रम से मुक्ति पा जायं, तो जन-मनस् (popular mind) की तथा-कथित श्रेष्ठता के सीधे प्रमाणों को हम उपेक्षा करने योग्य ही देखेंगे।

अब तक हमने उन सिद्धान्तों का विचार किया है जिनके अनुसार

सामाजिक मन एक सचमुच की सामूहिक चेतना है।

मैकडूगल, कम से कम थोडी देर के लिये तो, सामूहिक चेतना के सिद्धान्त को इस अर्थ मे मानने से इनकार करता है कि समाज की समाज में रहनेवाले व्यक्तियों की चेतना से ऊपर अलग से कोई एक चेतना होती है। इसके बावजूद वह समष्टि-मन को मानता है। मन (mind) से उसका मतलब मानसिक अथवा प्रयोजनशील (purposive) शक्तियों के एक संगठन से है, और इस अर्थ में उसके मत से समाज के अन्दर एक सामूहिक मन का होना माना जा सकता है, क्योंकि समाज अनिवार्य रूप से एक संगठन है जिसको केवल मन की सहायता से ही समझा जा सकता है यानी वैयक्तिक मन इसकी इकाइया हैं और इनके आपसी सम्बन्धों से ही समाज बनता है। मैकडूगल का यह कथन तीन बातों पर आधारित है। पहिली बात, उसकी दलील है कि समाज जिन वैयक्तिक मनों से बनता है वे एक-दूसरे मे छिपे हुए हैं और एक-दूसरे की पूर्ति करते है। उनके आपसी सम्बन्ध आन्तरिक (intrinsic) हैं, वे वास्तव मे वैयक्तिक मन के अंश है, और इसका मतलब यह हुआ कि समाज, यानी आपस में सम्बन्धित मनों की समष्टि, उसी चीज़ का बना हुआ है जिस चीज़ के वैयक्तिक मन बने है, "केवल मन की सहायता से ही समझा जा सकता है।" लेकिन इस तरह से यह सिद्ध नहीं होता कि समाज एक मन है। कारण साफ है, क्योंकि यद्यपि यह सही है कि समाज का वर्णन करने या उसे समझने में मन की मदद लेना जरूरी है, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि मनों के आपसी सम्बन्ध से जो चीज बनती है वह स्वयं भी मन है, जैसे कि यह नही कहा जा सकता कि ईटों से जो मकान बनता है वह भी ईट है। दूसरी बात, इसलिए मैकडूगल यह दलील देता है कि किसी

एक क्षण में समाज में जितने भी वैयक्तिक मन प्रवेश करते है, वे समाज का निर्माण नही करते, बल्कि वे समाज की सूक्ष्म और असख्य शक्तियो के द्वारा ढाले जाकर आकार ग्रहण करते है। समाज "शक्तियों की एक संगठित समष्टि है, इसका अपना एक अलग ही जीवन है, अपनी अलग प्रवृत्तियां है, यह अपने अंशभूत व्यक्तियों को ढालने की और अपने को हमेशा एक-जैसा बनाये रखने की ताकत रखता है और यदि इसमे कोई परिवर्तन होता है तो बहुत धीरे-धीरे।"*

तीसरी बात, डर्कहीम की तरह मैकडूगल भी यह मानता है कि किसी परिस्थिति में समाज जो कार्य करता है वह उन कार्यो का योग मात्र नही होता जो कार्य उसके सदस्य उसी परिस्थिति में तब करते जब उनके बीच वह सम्बन्ध न होता जिससे समाज बनता है, बल्कि उससे भिन्न होना है या हो सकता है। "हरेक आदमी समाज के एक सदस्य की हैसियत से जो कुछ सोचता या काम करता है वह उससे बहुत भिन्न होता है जो वह एक एकाकी व्यक्ति की हैसियत से सोचता और करता है" (पृ० २८-३०)। इसके साथ ही यह दलील भी जुडी हुई है—डर्कहीम ने भी यह दलील दी है—कि समाज अपने अवयवों के योग मात्र से "बढकर" है। मैकडूगल तो यहा तक कहता है कि उत्कृष्ट तरीके से संगठित समाज बुद्धि और नैतिकता के उस स्तर को प्राप्त कर लेते है जो उसके औसत सदस्यों के स्तर से ऊपर होता है, यहा तक कि उसके सर्वोच्च सदस्यों के स्तर से भी ऊपर होता है (पृ० ९०-९१)।

मैकडूगल अपने मत का जर्मन अध्यात्मवाद के मत से निश्चित भेद दिखाने के लिये बहुत उत्सुक है, लेकिन यह देखना मुश्किल है कि वह

* "The Group Mind", पृ० ९।

भेद क्या है जिसके ऊपर मैकडूगल इतना जोर देता है। मैकडूगल ने मि० बार्कर (Barker) की बात मानते हुए उसके उस कथन को उद्धृत किया है जिसके अनुसार एक सामाजिक मन होता है और यह "एक ऐसी चीज़ है जो समाज के सदस्योके अलग-अलग मनों के साथ-साथ अस्तित्व रखती है तथा **उन मनों को जोड़ने मात्र से जो योग मिलेगा उससे ऊपर रहती है।**" साथ ही मैकडूगल सामाजिक मन को, कम-से-कम उन समाजों मे जिनका संगठन उत्कृष्ट कोटि का है, बुद्धि और नैनिकता की दृष्टि से औसत सदस्यों और सबसे अच्छे सदस्यों के मन से भी ऊंचा मानता है। मैकडूगल के मत का जर्मन अध्यात्मवादी मत से जो भेद साफ़-साफ प्रकट होता है वह एकमात्र यह है कि मैकडूगल अध्यात्मवादियों को सामूहिक चेतना के सिद्धान्त को मानने वाला बताता है और स्वयं उसे मानने से इनकार करता है। लेकिन इसमे बहुत ज्यादा शक है कि अध्यात्मवादियों ने कभी इस तरह का सिद्धान्त माना हो। हेगल के ग्रन्थों में इसका उल्लेख नही है और डा० बोसान्क्वेट (Bosanquet) ने इसका साफ़-साफ खण्डन किया है।* दूसरी ओर, यह उल्लेख कर देना चाहिए कि सामूहिक चेतना का अस्तित्व न मानते हुए भी डा० मैकडूगल ऐसी भाषा का बार-बार इस्तेमाल करते है जो इस तरह की चेतना के अस्तित्व का सुझाव देती है, जैसे कि तब जब वे मैकइवर (Maciver) के विरोध में कहते है कि समाज काम करता है, महसूस करता है। इच्छा करता है और सोचता है (पृ० २८-३०)। सच्ची बात यह है कि मैकडूगल सामाजिक मन की दो बिल्कुल भिन्न धारणाओं में उलझा हुआ है। पहिली यह कि सामाजिक

---

* "Mind", जनवरी १९२१, पृ० ६४।

मन से हमारा तात्पर्य उस समाज से हो सकता है जिसके अन्दर **दल की भावना** (esprit de corps) बहुत ज़बर्दस्त रूप में विकसित है, अर्थात् मैकड्गल के सिद्धान्त मे, उस समाज से जिसमे प्रत्येक सदस्य का एक लम्बे अर्से से सम्बन्ध होने के कारण अपने सम्पूर्ण समूह के बारे में एक निश्चित ख्याल बन गया है, तथा, अपनी आत्म-सम्मान की भावना का इतना विस्तार करके कि उस सारे समूह के हित उसमें शामिल हो जायं, उस समूह के प्रति एक दृढ़ भावना पैदा हो गई है। लेकिन सामाजिक मन से दूसरा मतलब भी हो सकता है, यह मतलब नही कि समूचे समूह का ख़्याल अनिवार्य रूप से हरेक सदस्य के मन में मौजूद है, बल्कि यह कि सामूहिक जीवन ऐसे विचारो, रुचियों और मूल्यों के ऊपर निर्भर है जिनमें सामंजस्यपूर्ण एकता है और जो किसी एक वैयक्तिक मन की उपज नहीं हैं।

पहिले मतलब के बारे में हम कह सकते है कि परार्थ को भावना (altruism) के स्वरूप और विकास का मैकड्गल ने जो वर्णन किया है उसको माने बगैर यह माना जा सकता है कि ऐसे समाज दुर्लभ नही हैं जिनमें सदस्य समूचे समूह का साफ-साफ ख्याल रखते हैं तथा अपने और समूह के हित को एक समझते है। उदाहरण के लिये, कुछ परिवारों में बिल्कुल यही होता है। लेकिन यदि राष्ट्र (nation) के बारे में भी यही बात कही जाय तो वह तथ्यों के बिल्कुल विरुद्ध होगी। अगर किसी राष्ट्र का अस्तित्व केवल तभी होता है जब उसके सभी सदस्यों के मन में उस समूचे राष्ट्र का ख़्याल मौजूद होता है और जब वे सब अपने-अपने हितों को राष्ट्र के हित से अभिन्न समझते है, तो ब्रिटेन एक राष्ट्र नही है। जितनी मैकडूगल के सिद्धान्त में गुंजाइश है उससे कही अधिक जटिल और लचीला राष्ट्रीय

मन (यदि किसी समाज में काम करनेवाले विचारों को यह नाम देना उचित हो) होता है। दूसरी ओर, अगर हम सामाजिक मन की दूसरी धारणा को मानें, तो हम देखेंगे कि अध्यात्मवादियों के जिस मत का मैकडूगल ने खण्डन किया है, मुख्य बातों में मैकडूगल का मत उससे भिन्न नही है और कि जो आक्षेप पहिले के खिलाफ हैं वही दूसरे के ख़िलाफ भी हैं: अर्थात् यह सही है कि समाज ऐसे विचारों, उद्देश्यों और परम्पराओं पर निर्भर होता है जो एक विशाल सहयोग के परिणाम है और किसी एक वैयक्तिक मन की उपज नही हैं, फिर भी समाज उस तरह की एकता नहीं रखता जो व्यक्तित्व के अंशों को एक साथ बाधे रखती है; यह सिद्धान्त अन्तर्वस्तु की एकता और प्रक्रिया की एकता में भेद नही कर पाता; तथा सबसे बड़ी बात यह है कि इस अध्याय के शुरू में जिन दुष्परिणामों का उल्लेख किया गया है वे सब इस सिद्धान्त पर लागू होते है, जैसा कि मैकडूगल और अध्यात्मवादी दोनो मे दिखाई देता है।

सामाजिक मन के "अपने हिस्सों के योग" से बढ़कर होने के ऊपर आधारित जो दलील है, वह भी द्विविधाजनक है। इससे हमारा मतलब यह हो सकता है कि एक अत्यधिक संगठित समूह जो निर्णय करता है वह बुद्धि और नैतिकता की दृष्टि से उस निर्णय से श्रेष्ठ होता है जो उसके सदस्य, सबसे अच्छे सदस्य भी, अकेले कर सकते है। यह बात बार-बार ज़ोर देकर कही गई है, लेकिन इसके हमेशा या बार-बार होने के बारे में शक होता है। ख़ास तौर से जटिल समाजों के बारे में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि लोक-निर्णय (public decisions) हमेशा नैतिकता और दृष्टि की स्वच्छता में सबसे बडे सदस्यों के विचारो से बढ़कर नही होते। अगर कही बढ़कर होते भी

है तो इसका कारण है केवल सहयोग और यह तथ्य कि जहा सामूहिक विचार-विमर्श की अच्छी सुविधा है वहां इस बात की सम्भावना रहती है कि समाज के सदस्य एक-दूसरे से कुछ सीखेगे और जिस बात पर विचार हो रहा हो उसके ऐसे पहलुओ को प्रकट करेगे जिन पर दूसरो का ध्यान नही गया है। ऐसी हालत मे कई व्यक्तियो के मन सहयोग-पूर्वक काम करते होते है। इसके अलावा एक सामाजिक मन की कल्पना करने की क्या जरूरत है, यह समझ मे नही आता। सामाजिक मन के व्यक्तियो के मन के योग से बढ़कर होने का दूसरा मतलब यह भी हो सकता है कि सामाजिक परम्पराएं, बौद्धिक और नैतिक सस्थाए इत्यादि किसी एक मन की उपज नही है तथा किसी एक वैयक्तिक मन की अन्तर्वस्तुओं की अपेक्षा इनका आकार और भार बढ़कर होता है। लेकिन, निश्चय ही परम्पराए और संस्थाए अपने-आप मे कुछ भी नही है; पीढी-दर-पीढी व्यक्तियो को उनकी रक्षा करनी होती है और उनको नया अर्थ देना होता है, और यद्यपि उनकी अन्तर्वस्तु किसी वैयक्तिक मन की अन्तर्वस्तु से बढ़कर होती है, फिर भी वे सब वैयक्तिक मनों के सहयोग से बढ़कर नही होती।

मैकडूगल ने बार-बार यह दलील दी है कि समाज का अपना अलग ही एक मानसिक जीवन होता है जो उसकी इकाइयों के, अलग-अलग अस्तित्व रखनेवाली इकाइयों के, मानसिक जीवनों का योग मात्र नही है, और कि समष्टि के स्वभाव के बारे में हम उसकी इकाइयों के स्वभाव से कोई निष्कर्ष नही निकाल सकते; लेकिन मुझे तो यह दलील सारहीन मालूम पडती है। ऐसे व्यक्ति हमको मिल ही नहीं सकते जो सभी सामाजिक सम्बन्धों मे बिल्कुल अलग हों। फिर, मैकडूगल स्वयं भी मैकइवर की तरह यह मानता है कि ये सामाजिक सम्बन्ध व्यक्ति के स्वभाव के

आवश्यक अंग है और इनका अस्तित्व केवल उसके अन्दर होता है; लेकिन अगर हम व्यक्तियो को उसी रूप मे देखे जिस रूप मे हम उनको पाते है अर्थात् समूह के सदस्यो के रूप मे, दूसरो के साथ सम्बन्ध रखने वालो के रूप मे, तो समाज मे समूह-बद्ध वैयक्तिक मनों के अतिरिक्त और क्या मिलेगा? यह ख्याल कि एकाकी व्यक्तियों का "योग मात्र" मालूम किया जा सकता है और ठोस सामाजिक सत्ता से उनका वैषम्य दिखाया जा सकता है, एक व्यर्थ कल्पना है और मुझे बिलकुल अर्थहीन मालूम पडता है।

मैकडूगल उस दलील का जवाब देने मे भी असफल रहा है जो आधुनिक समाज के अन्तवर्ती समूहो की जटिलता इत्यादि के आधार पर सामाजिक मन के अस्तित्व के खिलाफ दी गई है। मैकइवर ने कहा है कि "सामाजिक सगठन हर किस्म और हर मात्रा की व्यापकता लिये हुए होते है। अगर इंगलैंड का एक सामूहिक मन है, तो बर्मिघम का क्यो नही और बर्मिघम के हर मुहल्ले का क्यों नही? अगर राष्ट्र का एक सामूहिक मन है, तो एक धार्मिक संस्था का भी है और एक व्यापारिक संघ का भी। और ऐसे सामूहिक मन भी मानने पड़ेगे जो बड़े सामूहिक मनों के अंश है तथा ऐसे भी जो दूसरे सामूहिक मनों को काटते है।" मैकडूगल ने इसका जवाब देते हुए कहा है: "इससे मेरा कुछ नहीं बिगडता। कोई समाज एक सामूहिक मानसिक जीवन व्यतीत कर रहा है या उसका एक सामूहिक मन है, यह कह सकने से पहिले उसके अन्दर संगठन की ठीक-ठीक किस मात्रा का होना जरूरी है? यह मात्रा का सवाल है और सामूहिक मन का समर्थक इसका नपा-तुला जवाब देने के लिये बाध्य नही है" (पृ० ३१)। लेकिन मुझे ऐसा मालूम पड़ता है कि एक ही व्यक्तियों के विभिन्न समूहों के सदस्य होने के कारण सामाजिक समूहों में जो परस्पर आच्छादन (overlapping) और काट होती

है वह इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर इशारा करती है कि ये समूह व्यक्तियों के जीवन के आंशिक पहलू मात्र है और फलतः उनकी एकता और ठोसपन **उस क़िस्म** का नही होता जिस किस्म का वैयक्तिक मनों का। साथ ही इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर भी इशारा होता है कि व्यक्ति जितना सामाजिक समूहों के सदस्य के रूप मे दिखाई देता है उससे कहीं बढ़कर है, कि उसके अन्दर एक इस किस्म की एकता है, उसके अस्तित्व में एक ऐसी गाठ है जो विभिन्न समूहों की सदस्यताओं में नही समा सकती। मैकडूगल ने सामूहिक मन का जो विश्लेषण किया है वह कुछ दृष्टियों से डर्कहोम के विश्लेषण से, बल्कि मैं जिनको जानता हूं अधिकांश ऐसे लेखकों के विश्लेषण से अधिक मूल्यवान् है। उदाहरण के लिये, इस विश्लेषण में विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूहों की मनोवृत्ति के भेद का ध्यान रखा गया है और यह उस तरीके को भी बताता है जिस तरीके से हम मन के क्रमिक विकास को तथा समाज में चेतन नियंत्रण के मूल तत्वों को समझ सकते है। इसके बावजूद मैकडूगल सामाजिक मन की दो भिन्न धारणाओं के बीच डोलता हुआ प्रतीत होता है; और यद्यपि वह सामूहिक चेतना की धारणा का खण्डन करता है, फिर भी उसने जिस भाषा का इस्तेमाल किया है वह इस तरह की चेतना मे उसका विश्वास प्रकट करती है। शायद इसी का फल है कि उसको सामाजिक मन को वैयक्तिक मन से ऊंचा मानना पड़ा है, जैसा कि उसके लोकमत के वर्णन मे दिखाई देता है, और समष्टि के हित और उसके सदस्यों के व्यक्तिगत हित के बीच की खतरनाक खाई भी इसी का परिणाम है।* इससे किसी हद तक उसके कुलीनतंत्रीय और रूढ़िवादी रवैये का भी कारण

---

* देखिये "Group Mind", पृ० १७२।

समझ में आ जाता है, क्योंकि सामाजिक मन अपनी बात नही कह सकता और उसको सबसे अच्छी तरह समाज का "उत्तम" अंश ही समझ सकता है।

अब तक के हमारे वर्णन से सामाजिक मन के स्वरूप के बारे मे कोई संगतिपूर्ण दृष्टिकोण प्रकट नहीं हुआ है, लेकिन निश्चय ही सामाजिक मन के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन एक सच्ची समस्या को हल करने के उद्देश्य से किया गया है और यह समस्या यह मालूम करने की है कि सामाजिक समष्टियों की सत्ता किस किस्म की है ? इन समष्टियों का मानसिक एकता होना स्पष्ट ही है, क्योंकि आपस में सम्बन्ध रखनेवाले मनों से उनका निर्माण होता है और ये सम्बन्ध स्वयं भी मानसिक तत्वों पर निर्भर रहते है। इसके बावजूद समाज को मन समझना एक भूल मालूम पड़ती है, जैसे कि सामाजिक समष्टियों को शरीर (organism) मानना एक भूल है, यद्यपि उनके भागों के बीच के सम्बन्ध शरीर के अवयवो के बीच के सम्बन्धों-जैसे ही होते है। जैसा कि प्रो० हॉबहाउस का कहना है, "समाजशास्त्रीय गवेषणा में इतनी बाधा किसी चीज से नही होती जितनी पारिभाषिक शब्दो की कमी से अथवा उनकी जगह ले सकनेवाले उपयुक्त रूपकों की कमी से होती है। समाजशास्त्र को अनुभव के अन्य क्षेत्रों से लिये हुए शब्दों और अन्य शास्त्रों में गढ़ी हुई धारणाओं को इस्तेमाल करना पड़ता है। जिस चीज से हमको सबसे ज्यादा दूर रहना चाहिए वह है कोई भी ऐसा शब्द जो किसी ऐसी एकता का सुझाव देता हो जो किसी दूसरी समष्टि में तो पाई जाती हो लेकिन जिस विशेष सामाजिक समष्टि पर हम विचार कर रहे हैं उसमें न पाई जाती हो।"* अलग-अलग

* "The Metaphysical Theory of The State," पृ० १३१।

किस्मों के सामाजिक समूहों को प्राप्त एकता की अलग-अलग मात्राओं के भेद की उपेक्षा करना भी निस्सन्देह विचार के उलझने का एक उल्लेखनीय कारण है।* उदाहरण के लिये, एक भीड़ मे जिस किस्म की एकता पाई जाती है उसके कारण है एक सबके ध्यान देने योग्य वस्तु का मौजूद रहना तथा यह तथ्य कि वह वस्तु भीड़ के ज्यादेतर लोगों को उनके पहले के अनुभव, उनकी वशानुक्रम-प्राप्त या नैसर्गिक विशेषताओ इत्यादि के कारण अपनी ओर खीचने की शक्ति रखती है। लेकिन यह एकता अपेक्षाकृत सरल होती है और इसमे अलग-अलग भागो की वह जटिल और सूक्ष्म पारस्परिक क्रिया तथा समायोजन नही दिखाई देते जो विकसित शरीरों में दिखाई देते हैं। यह एक ऐसी एकता है जो निर्देश से अर्थात् किसी प्रभावपूर्ण सवेगयुक्त प्रवृत्ति को उभारने और उसकी विरोधी प्रवृत्तियों को रोकने से पैदा होती है। ऐसा नही होता कि भीड़ में व्यक्तित्व संयुक्त हो जायं या कोई रहस्यपूर्ण सामूहिक चेतना काम करने लगे, बल्कि होता यह है कि हर एक व्यक्ति उन परिस्थितियों में कम सतर्क, कम उत्तरदायी, दूसरों के ऊपर ज्यादा विश्वास करनेवाला, अधिक निर्देशग्राही हो जाता है। इसमे शक नहीं है कि भीड में हरेक व्यक्ति उससे भिन्न तरीक़े से महसूस करता, सोचता और काम करता है जैसा वह एकाकी होने पर करता, लेकिन यह भेद केवल एक भिन्न परिवेश में प्रतिक्रिया करने के कारण है, इसको समझने के लिये निश्चय ही किसी रहस्यात्मक सामूहिक मन का सहारा लेने की जरूरत नहीं है जो लोगों के इकट्ठे होने मात्र से एकाएक पैदा हो जाता हो।

---

* डा० मैकडूगल, निस्सन्देह, भीड़ और संगठित समाज के अन्तर पर जोर देते हैं।

इससे ज्यादे संगठित समूहों में कुछ और भी तत्व काम करते है। सघो (associations) की एकता और दृढ़ता इस बात पर निर्भर रहनी है कि उनके उद्देश्य को सदस्य कितनी सफाई के साथ समझते है, प्रत्येक सदस्य ने अपने अन्दर अपने सघ के प्रति कितनी प्रबल भावना का विकास किया है, तथा प्रत्येक ने अपने हितो का अपने सघ के हितों से जो अभेद स्थापित किया है उसमें कितनी अनुभूति की तीव्रता है। सघों की ज्यादेतर सख्या ऐसी होती है जिसमे थोडे से सदस्यों के अन्दर ही सघ के लक्ष्यो को साफ-साफ जानकारी और सघ के प्रति अनुराग की ऊची मात्रा पाई जाती है, जबकि बाकी सदस्य सघ मे बहुत कुछ आदत और निर्देश के कारण, शायद एक धुधली आवश्यकता के कारण बने रहते है। लेकिन समान लक्ष्यों और समान भावनाओं की व्याख्या के लिये एक सामान्य मन की कल्पना करने की जरूरत नही है। ये वे विचार और भावनाए है जिनकी उत्पत्ति व्यक्तियों के अन्दर एक जैसे या एक ही वस्तुओं से सम्पर्क के कारण होती है। केवल प्रक्रिया और अन्तर्वस्तु मे ठीक भेद न कर पाने से ही सामान्य मन का सहारा लेने की ज़रूरत पैदा होती है। कुछ भी हो, संघों की शरीर की सी विशेषता बहुत बढ़ा-चढ़ा कर दिखाई गई है और निश्चय ही द्रव्य की वह अविच्छिन्नता (substantive continuity) तो उनमे नही होती जो वैयक्तिक मन में पाई जाती है। सघ जिसके अंश मात्र होते है और जिसमे सघो के अतिरिक्त सामंजस्य और संघर्ष, प्रतियोगिता और सहयोग के व्यक्तियों के बीच होनेवाले वे सभी सूक्ष्म सम्बन्ध शामिल है जिनको सगठन मे नहीं बाधा जा सकता, ऐसी व्यापक सत्ता जिसको सम्प्रदाय (community) कहते है, सबसे अधिक जटिल होती है और उसकी परिभाषा देना सबसे मुश्किल है। यह कहने से कोई बात साफ नही होती कि

सम्प्रदाय एक मन है। सम्प्रदाय मे अनगिनत परस्पर-क्रियाएं शामिल होती है, संघर्षशील और परस्पर सहायक रुचियों की एक भूलभुलैया शामिल होती है, एकता के अन्दर एकता और उलझानेवाली अनेकता रहती है। भीड मे व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जो सम्बन्ध होता है वह उन सम्बन्धों से भिन्न होता है जो व्यक्ति को उसके संघों से बांधे रखते है। ये सम्बन्ध भी व्यक्ति को अलग-अलग संघों से बाधनेवाले बन्धनो की घनिष्ठता के अनुसार सघ-संघ मे बदलते रहते है,तथा उन सम्बन्धों से भिन्न होते है जो उसे सब संघों को अपने में समाविष्ट करनेवाले सम्प्रदाय से बाधते है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि व्यक्ति जिन सामाजिक समष्टियो का सदस्य है उनसे उसके सम्बन्ध की समस्या उससे भी ज्यादा जटिल है जितना सामाजिक मन का सिद्धान्त कल्पित करता है। इन सम्बन्धों का विस्तृत वर्णन बाद मे किया जायगा। इस समय इस बात पर ध्यान देना अच्छा रहेगा कि सामान्य मन की धारणा मे नीचे लिखे तत्व शामिल है :

१. किसी एक समाज के सदस्यों में समान रूप से पाये जानेवाले मानसिक तत्व, वशानुक्रम-प्राप्त गठन के कारण होनेवाले प्रतिक्रिया के तरीक़े, जातिगत विशेपताएं इत्यादि।

२. नैतिक और बौद्धिक सामान्य परम्पराएं, जो (क) किताबो मे, संस्थाओ में, क़ानून, रीति-रिवाज इत्यादि मे मौजूद है; (ख) जो निश्चित सूरत नही ग्रहण किये है बल्कि लोक-मत, कला और साहित्य की प्रवृत्तियों, जन-आन्दोलनो में अंशतः प्रकट होती है।

३. सामाजिक भावनाएं अर्थात् वफ़ादारी की भावनाएं जो निश्चय ही वैयक्तिक मनों के अन्दर रहती है और जिनके केन्द्र विभिन्न प्रकार के सामाजिक समूह होते है। ये समूह ख़ास तौर से सामाजिक मन के सिद्धान्त को पुष्ट करते हुए प्रतीत होते है क्योंकि किसी समूह के प्रति हम

ऐसी वफादारी का अनुभव कर सकते हैं जैसी किसी एक व्यक्ति के प्रति। फिर भी यह याद रखना चाहिए कि जो सामाजिक मन के सिद्धान्त को नही मानते वे सामाजिक समूहों की सच्चाई से इनकार भी नही करते। ये सामाजिक समूह उतने ही सच्चे है जितने वे व्यक्ति जिनसे समूह बनते है, और कुछ दृष्टियों से, उदाहरण के लिये क़ानूनी और नैतिक कर्तव्यो की दृष्टि से, इनको व्यक्ति के रूप मे देखा जा सकता है, यद्यपि इसका मतलब यह नही है कि ये सचमुच में व्यक्ति या मन हैं। ऊपर पहिले और दूसरे समूहमें जो समान तत्व शामिल है उनका ऐसा विवरण दिया जायगा जो सामाजिक मन के अस्तित्व का समर्थन नही करता और यह भी दिखाया जायगा कि मन की एकता इन समान तत्वो से कोई सादृश्य नही रखती। इन सवालों में जाने से पहिले उस सिद्धान्त की परीक्षा करना ठीक रहेगा जो सामाजिक मन के विस्तृत सिद्धान्त से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। यह सामान्य कृति (general will) का सिद्धान्त है। अगले अध्याय में हम इस पर विचार करेंगे।

५

सामान्य कृति की धारणा

रूसो (Rousseau) के समय से राजनीति-दर्शन में सामान्य कृति (general will) की धारणा का बहुत महत्त्वपूर्ण काम रहा है। खास तौर से इसका उपयोग जिसे साम्राज्य और क़ानून का एकतन्त्रीय सिद्धान्त कहा जा सकता है उसके आधार के रूप मे किया गया है, लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि आजकल बहुत-से लोग राज्य के अन्दर छोटे-मोटे सघो की मागो पर इस आधार पर जोर दे रहे है कि इन छोटे-मोटे सघो की अपनी अलग सामान्य कृति होती है।* इस विषय पर और इससे मिलती-जुलती सघो के व्यक्तित्व की समस्या पर उपलब्ध साहित्य बहुत विशाल है, लेकिन इसके सही मानो में क्रमबद्ध विश्लेषण की कोशिशे ज्यादा नही की गई है। इस अध्याय को

---

* देखिये Gierke, "Genossenschaftsrecht", vol. 3, तथा "Das Wesen der Menschlichen Verbande"; Maitland की Gierke के "Medieval Political Theories" की भूमिका; Figgis, "Churches in the Modern State"; तथा Guild Socialism का बहुत-सा साहित्य।

लिखने का उद्देश्य इनमें से कुछ समस्याओं पर और खास तौर से सामान्य कृति के सिद्धान्त पर, जिस रूप में प्रो० बोसान्क्वेट ने इसका विकास किया है, आलोचनात्मक विचार करना है। जिन कोशिशो की ओर हमने अभी संकेत किया है वे पाच समूहो मे आती है, जिनके आपसी अन्तर थोडा-बहुत साफ है, यद्यपि एक-दूसरे से बिल्कुल अलग वे नही है। वर्णन की सुविधा की दृष्टि से इन पर अलग-अलग विचार किया जायगा।

सबसे पहिले, सामान्य कृति की पैदाइश तब समझी जाती है जब किसी समूह या समाज के हरेक व्यक्ति या व्यक्तियो की ज्यादा से ज्यादा तादाद के मन मे उस समूह का एक समष्टि (whole) के रूपमे विचार मौजूद रहता है और हरेक व्यक्ति अपने हित को उस समष्टि के हित से अभिन्न समझता है। डा० मैकडूगल का मत कुछ इसी तरह का मालूम पड़ेगा। कभी-कभी, जैसे कि नोविकोव (Novicov) के मत मे, इस तरह के समष्टि के विचार की मौजूदगी केवल समाज के सर्व-श्रेष्ठ वर्ग (social élite) के मन मे अर्थात् उन लोगों के मन मे जरूरी समझी जाती है जो किसी सम्प्रदाय मे विचार और कार्य का वाकई नेतृत्व करते है (इस वर्ग का सरकारी होना जरूरी नही है)। नोविकोव के मन मे ("Conscience et Volonté Générale") समाज एक मानसिक देह (psychical organism) है और सामाजिक उच्च वर्ग का इसमे स्थान व्यक्ति की देह मे रहनेवाले मस्तिष्क के तुल्य है।

द्वितीय, कृति सामान्य तब कही जाती है जब पक्ष-विपक्ष को तोलते हुए वाद-विवाद करके किसी निर्णय पर पहुचा जाता है, और वाद-विवाद का लक्ष्य मतभेद को दूर करना अर्थात् समूह के हरेक

सदस्य के अच्छे विचारों से फ़ायदा उठाना होता है, व्यक्तिगत इच्छाओं को एक साथ जोड़ देना मात्र नही। प्रो० मैकेन्ज़ी (Mackenzie) का मत ऐसा ही मालूम पड़ता है। उनके अनुसार सामान्यकृति की धारणा मे ये बाते शामिल है: (१) किसी एक निर्णय को करने मे लोगों का एक बड़ी तादाद मे इकट्ठा होना; (२) यह तथ्य कि जो निर्णय किया जाता है वह सारे समूह के हित को मद्दे-नजर रखके किया जाता है, व्यक्तिगत इच्छाओ का सन्तुलन मात्र करके नही। लेकिन जो लोग निर्णय करते है उनके अन्दर इनमे से पहिली शर्त को घटाकर केवल इतनी धुधली-सी इच्छा या अनुभूति का होना काफी समझा जाता है कि उनका निर्णय उन लोगो के दृष्टिकोण से सामजस्य रखेगा जो उससे प्रभावित होते है। इतनी ढिलाई करने का मतलब साफ़-साफ़ यह है कि ज्यादातर मामलो में निर्णय करनेवाले लोग वास्तव मे बहुत थोड़े होते है, हालाकि जिन लोगो के लिये वे काम कर रहे होते है उनकी ज्यादा से ज्यादा तादाद के विचारो और इच्छाओ का, यदि वे मालूम हो सके, ध्यान वे रख सकते है। इस अर्थ में सामान्य-कृति शब्द का इस्तेमाल हानिकारक नही है, लेकिन इसका कोई खास महत्त्व भी नही है। यह कहने का एक गोलमाल-सा तरीका मात्र है, उदाहरण के लिये, यह कहने का कि सरकार के कामों को प्रजा के अधिकतम लोगों की सक्रिय या निष्क्रिय, किसी तरह की स्वीकृति पर आधारित होना चाहिए; और इसमें यह कमी है कि यह इस बात को छिपाता है कि समूहो में, खास तौर से राज्यों में, जो कार्यवाही की जाती है वह प्रायः बहुसंख्यकों के सहयोग और पूर्ण स्वीकृति का फल नही होती, बल्कि केवल थोड़े-से लोगों के सहयोग और पूर्ण स्वीकृति का। कुछ लेखको के मत में, जैसे मिस फ़ॉलेट (Follett) के, ऊपर जिसे

मतभेद को दूर करना कहा गया है वह विभिन्न मनो के "संगम" (confluence of minds) अथवा चेतना की अवस्थाओं के सयोग के सिद्धान्त से सम्बन्धित हो सकता है। इस तरह से सामान्य कृति एक सच्ची वस्तु हो जाती है जो कि वैयक्तिक मनो के, जिसे सामाजिक प्रक्रिया (social process) कहते है, उस तरीके से एक-दूसरे के अन्दर प्रविष्ट होने का फल है।

तृतीय यह मान लिया जाता है कि सम्पूर्ण समाज और सामाजिक हित (good) चेतना की सामान्य अन्तर्वस्तुए केवल सामाजिक विकास के सर्वोच्च स्तरों पर ही बन सकते है।* फिर भी यह दावा किया जाता है कि जिन-जिन समाजों में अविच्छिन्नता और स्वतंत्रता की एक निश्चित मात्रा होती है उन सबमें विचार और कृति की अन्य सामान्य अन्तर्वस्तुएं अवश्य होनी चाहिए, जिसका नतीजा यह होगा कि जब उनके सदस्यों का सामना एक ही परिस्थिति से होगा या जब उनको एक ही वस्तुओं से उत्तेजना प्राप्त होगी तब उनको एक ही आन्तरिक प्रतिक्रिया का अनुभव होगा। यह स्वीकार किया जाता है कि किसी राष्ट्र के जीवन मे ऐसे क्षण आ सकते है जब विचार, अनुभूति और कृति में कम ही साम्य होता है, और ऐसे समय मे आत्म-चेतना अपनी निम्नतम सीमा पर होती है। लेकिन ऐसी ही बात व्यक्तियों में भी होती है, अलावा इसके कि व्यक्तियों मे चेतन क्रिया के क्षण अधिक बार-बार आते है और बड़ी अवधि तक चलते है। इस मत के अनुसार व्यक्तिगत आत्मा को चेतना की कुछ अस्थायी और चलायमान अन्तर्वस्तुओं का उन

* देखिये, Barth, "Geschichte der Philosophie als Soziologie".

अन्तर्वस्तुओं से संयोग के रूप में देखा जाना है जो कुछ ज्यादा टिकाऊ है, जैसे आन्तरिक जीवन के कुछ स्थायी सम्बन्ध और देह से सम्बन्ध रखने वाले कुछ अनुभव। इस सयोग के जरिये स्थायी का चलायमान से वैषम्य तीखा हो जाता है और इस तरह से वह अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छ और स्पष्ट होकर आत्म-चेतना को पैदा करता है। इसी तरह से समाज मे भी चेतना की कुछ अन्तर्वस्तुए होती है जो कम या ज्यादा मात्रा मे स्थायी होती है, जैसे परम्पराए और एक समान अतीत की चेतना, जो कि सामान्य मन की पृष्ठ-भूमि मे रहती है, और जब इनके खिलाफ कोई नया अनुभव पैदा होता है जिसमे कि इनको शायद खतरा भी होता है, तब समाज आत्म-चेतन हो जाता है और इस काबिल बन जाता है कि आत्म-चेतना-युक्त निर्णय कर सके। इस प्रसग में यूनानियो का ईरानियों से विरोध और जर्मनों का नेपोलियन से विरोध ध्यान देने योग्य है।

इन मतों पर विचार करते हुए सबसे पहिले हमे दो महत्त्वपूर्ण फ़र्कों पर ध्यान देना चाहिए। पहिले हमे कृति की क्रिया का कृति की वस्तु से फर्क जान लेना चाहिए। इसके बाद हमे कृति की निश्चित क्रियाओ को कृति की प्रवृत्तियों या आदतो से अर्थात् किसी एक परिस्थिति का सामना होने पर कृति की जो सम्भाव्यताएं होती है उनमे अगल्न पहिचान लेना चाहिए। हम कह सकते है कि सामूहिक जीवन के फलस्वरूप समूह में रहनेवाले व्यक्तियों की कृति की निश्चित क्रियाए या उनकी कृति को प्रवृत्तियों या आदतो की कम या ज्यादा टिकाऊ समष्टिया (systems) न केवल स्वय व्यक्ति के हित के विचार के द्वारा वल्कि सारे समूह के हित के विचार के द्वारा प्रभावित और निर्धारित हो सकती है। जहां पर समूह के प्रत्येक सदस्य या सदस्यो

की एक काफी बड़ी तादाद में यह बात पाई जाती है वहां हम ऐसे सदस्यो की कृति को सामान्य कृति कह सकते है, और ऐसा कहने से हमारा मतलब यह नही होगा कि उन सब सदस्यों का लक्ष्य एक सार्वभौम वस्तु है (जो कि सिद्ध नही हुआ है), न यह होगा कि अनेक व्यक्तिगत कृतियों से अलग **एक** सामान्य कृति भी है, बल्कि केवल यह होगा कि उन सदस्यो की कृति के विशेष कार्यो को प्रभावित करने के लिये, उनको एक समान कार्य के लिये प्रेरित करने के लिये, संयुक्त निर्णयो पर पहुचने के लिये, विचारों और आदर्शो की एकता काफी मात्रा मे मौजूद है। ऐसे मामलो में **समष्टि की कृति** नही कही जा सकती, बल्कि केवल **सबकी कृति** होती है जो **समष्टि के हित** के विचार से निर्धारित होती है। कृति के कार्य हमेशा व्यक्तिगत ही रहेंगे। लोगो की कृति केवल सम्मिलित कृति ही रहेगी, इसलिए कि वह कृति के व्यक्तिगत कार्यों के एक साथ मिलने से पैदा होती है, हालाकि ये कार्य अपनी अन्तर्वस्तुओं के सादृश्य के कारण, अथवा समष्टि के हित के विचार से प्रभावित होने के कारण एक-दूसरे के समान हो सकते है।

यह सवाल कि इस तरह की सामान्य कृति का अस्तित्व है या नही, एक तथ्य-विषयक सवाल है और इसका निर्णय हरेक समूह की विशेष छान-बीन करके ही हो सकता है। आम तौर पर उन मनोवैज्ञानिक शक्तियो मे जो कि आखिर में एक सार्वजनिक हित के कार्य को पैदा करती है, कृति नाम से ठीक-ठीक जिस चीज़ का मतलब होता है वह कम ही पाई जाती है। उनको अन्धे आवेग, ऐसे लक्ष्य जिनका धुधला-सा पूर्व ज्ञान हो, अचेतन या अर्ध-चेतन अनुमान, आदत और पूर्वाग्रह के तत्वों का मिला-जुला झुण्ड कहना ही ठीक है। बड़े-बड़े राजनीतिक

निर्णय तक बहुत कम किसी समूह के सब सदस्यो या बहुसंख्यक सदस्यो के स्पष्ट सहयोगपूर्ण विचार-विमर्श की उपज होते है।* अगर डा० मैकडूगल की तरह हम सामूहिक कृति को केवल समूह के उन कार्यो तक ही सीमित रखें जो समूह के हरेक सदस्य की कृति के सम्पूर्ण समूह के प्रति सम्मान की भावना से और सम्पूर्ण समूह के हित के विचार से प्रभावित होने से पैदा होते है, तो सामूहिक कृति का दायरा बहुत ही ज्यादा छोटा हो जाता है। कुछ परिवारों में या विशिष्ट उद्देश्यो की पूर्ति के लिये काम करनेवाले छोटे-छोटे समूहों मे इसका अस्तित्व हो सकता है; लेकिन आजकल की दुनिया के बड़े-बड़े समूहो मे इस तरह की कृति का अस्तित्व एक आशा, आकांक्षा मात्र है, तथ्य नही। खास तौर से राज्य के अन्दर जटिल समूह शामिल रहते है जिनकी अनेक परस्पर बहुत भिन्न रुचिया होती है। इसके अलावा इन समूहोमें एक तरहकी सामूहिक स्वार्थपरता विकास करती है जो कि प्रायः समष्टि के हित के विरुद्ध होती है। इसमे सन्देह नही है कि बहुसंख्यक लोगो के अन्दर समष्टि के प्रति रुचि की अनुभूति हो सकती है, सामाजिक ढाचे को सुरक्षित रखने के लिये सक्रिय या निष्क्रिय रूप से कार्य करने की एक धुधली इच्छा मौजूद रह सकती है, लेकिन इसको मुश्किल से ही कृति कहा जा सकता है। जो हेतु किसी एक विचार या कार्य की योजना को अपनाने और अन्यो को छोड़ने के लिये मजबूर करते है वे प्रायः कही भी पाये जा सकते है लेकिन उस विचार की आन्तरिक सच्चाई या उस योजना के मूल्य को समझकर स्वीकार करने में बिल्कुल भी नही; और यदि इस तरह

---

* देखिये Graham Wallas, "Human Nature in Politics," Ch. 3.

का समझपूर्वक विचार कही पाया भी जाता है तो वह थोडे-से गिने-चुने लोगो तक ही सीमित रहता है जो कही-कहीं उदारमना और नि.स्वार्थ होते है, लेकिन कही-कही सब लोगों के हित के बजाय कुछ वर्गो के हित मे किन्ही विचारो को जानबूझ कर फैलाते है। चुनाव की प्रक्रिया प्रायः पक्षपातपूर्ण होती है, हालाकि कभी-कभी ऐसा बगैर जानेबूझे होता है। इसलिए हम कह सकते है कि जटिल समूहो मे अगर आत्म-चेतना-युक्त कृति मौजूद है तो वह सामान्य नही होती और अगर किसी समाज मे काम करनेवाली मानसिक शक्तिया सामान्य होती है तो वे कृति नही है। डा० बार्थ (Barth) के मन पर भी इसी तरह का कथन लागू होता है। जिस तरह की आत्म-चेतना के बारे मे उन्होने कहा है उसका अस्तित्व किसी राष्ट्र के जीवन में केवल महान् आपत्तियों के समय ही सम्भव है जब सारे समाज का अस्तित्व खतरे मे होता है। कोई राष्ट्र केवल उसी हालत मे एक होकर काम करेगा जब उसको यह महसूस हो कि उसकी स्थायी सम्पत्तियों के लिये ख़तरा पैदा हो गया है और उस हालत मे भी वाकई आत्म-चेतना-युक्त-कृति का दृष्टान्त मिलना सन्देह की बात है। इसका कारण यह है कि ऐसे खतरे के समय प्रायः भीड मे उभरनेवाले पाशविक आवेग और सहज-प्रवृतिया उन्मुक्त हो जाती है। शायद यह दलील दी जायगी कि व्यक्तिगत कृति के मामले में भी आत्म-चेतन कृति का अस्तित्व आदतो, सहज-प्रवृतियों इत्यादि पर आधारित रहता है, लेकिन जहा व्यक्ति के मामले मे सहज-प्रवृत्ति के तत्व एक ही व्यक्तित्व के अन्दर चेतन विचारो से संयुक्त होते हैं, वहा समाज के मामले में चेतना यानी समग्र समाज का विचार उसके सबसे ज्यादे बुद्धि-सम्पन्न और सार्वजनिक भावनावाले सदस्यों के मन मे ही मौजूद रहता है जबकि बहुसंख्यक लोग सामाजिक सम्बन्ध की

दृष्टि मे आदत या सहज-प्रवृति के स्तर पर ही रहते है। इसलिए यहा भी अगर कृति है तो वह सामान्य नही है और अगर काम करनेवाली शक्तिया सामान्य है तो वे कृति नही है।

अब हम सामान्य कृति के बारे में चौथे मत का विवेचन कर सकते है जो कि कुछ-कुछ डा० बार्थ के मत जैसा है लेकिन उससे ज्यादा विस्तृत है। यह मत वुन्ट का है।* यह मत संवेदना (presentation) और कृति के पारस्परिक सम्बन्ध के विश्लेषण पर आधारित है। कृति का केवल क्रिया होना असम्भव है, इसमे अन्तर्वस्तु और प्रेरक के रूपमे संवेदना छिपी रहती है। दूसरी ओर सवेदना मे भी एक सवेदनात्मक क्रिया (presentative activity) छिपी रहती है। वुन्ट के अनुसार वास्तव मे सवेदनाए अपनी उत्पत्ति के लिये एक कृति की दूसरी पर क्रिया होने पर निर्भर होती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी कृति के पहिले अन्य कृतियों का होना जरूरी है। इससे वुन्ट सत्ता (reality) के बारे मे यह धारणा बनाता है कि वह कृति की एकताओं (will-unities) की एक श्रृंखला है—eine Stufenfolge von Willenseinheiten—जो एक-दूसरी पर प्रभाव डाल कर अथवा पारस्परिक क्रिया से यानी सवेदनात्मक क्रिया से अलग-अलग विस्तारवाली कृति-ग्रन्थियों (will-complexes) की एक शृंखला मे विकसित होती है। किसी भी व्यक्तिगत कृति मे जो एकता होती है वह आपेक्षिक मात्र होती है। वास्तव में व्यक्ति एक सामान्य कृति होता है जिसके अन्दर निम्न स्तर की शक्लवाली कृतिया एक-दूसरी से संयुक्त होती है, क्योंकि शुद्ध व्यक्तिगत क्रिया एक बिन्दु

---

* देखिये "System der Philosophie" तथा "Ethik".

होती है जो यथार्थ मे अनुभव मे कही भी नही दिखाई देता। फिर दूसरे छोर पर हम सारी मानव-जाति की एक सामान्य कृति की कल्पना कर सकते है जो उसके सभी सदस्यों और सदस्यो के समूहो मे समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एकता लाती है। और अन्त मे धार्मिक चेतना मे ईश्वर की कृति की कल्पना होती है जो सबसे ऊची और आखिरी एकता है, जो एक साथ मानव-जाति की सार्वजनिक आध्यात्मिक सम्पत्ति का उद्गम और उसकी प्राप्ति का हेतु है। इस मत के अनुसार सामान्य कृति (Gesamtwille) बहुत ही जटिल है और उसके अन्दर विभिन्न विस्तार और शक्तिवाली कई शक्लो की एकताए शामिल है। लेकिन इसकी और इसके अन्दर इसके अपने ही जो कई विस्तृत और संकुचित रूप है उनकी सत्यता काल्पनिक नही बल्कि वास्तविक है। व्यक्तिगत आत्मा की सत्यता उसके पीछे रहने वाले किसी द्रव्य मे नही पाई जा सकती, बल्कि वास्तविक आध्यात्मिक जीवन मे, चेतन क्रिया मे—Bewusstseinstätigkeit—मानव जाति की सार्वजनिक आध्यात्मिक सम्पत्ति, कृति की दिशाओं या युग-प्रवृत्तियो को अपने अन्दर केन्द्रीभूत करने और उसको अभिव्यक्ति प्रदान करने की इसकी योग्यता के विस्तार मे पाई जा सकती है। वुन्ट का विचार है कि एक बार आत्मा की उस धारणा को छोड़ देने पर जिसके अनुसार यह एक अलग और स्वतत्र अस्तित्व रखनेवाला द्रव्य माना जाता है, हम उचित रूप से यह मान सकते है कि सामान्य कृति की सत्यता की मात्रा व्यक्तिगत कृति की अपेक्षा किसी तरह कम नही है। सभ्यता की हलचलें, संस्कृतियों का विकास, ये एक सचमुच के मिले-जुले जीवन के परिचायक है, जो कि एक-दूसरे से अनावश्यक रूप से सम्बन्धित व्यक्तिगत लक्ष्यों की एक आकस्मिक उपज नही है। फिर

भी, वुन्ट हमें बताता है कि हमें व्यक्तिगत कृतियों की उपेक्षा करते हुए सामान्य कृति को बहुत ज्यादा महत्त्व नही देना चाहिए। अगर हम ऐसा करते है तो यह उतना ही एकागी है जितना मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद और नैतिक परमाणुवाद (psychological and ethical atomism) नामक विरोधी सिद्धान्तों का सकीर्ण व्यक्तिवाद (individualism)। कुछ ऐसे व्यक्ति है जिनका सम्प्रदाय में हलचल पैदा कर देनेवाले विचारो या अनुभूतियो पर इस कदर आधिपत्य हो चुका है, तथा जो इन विचारों और अनुभूतियों को प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करने में इस क़दर कुशल है कि वे न केवल सामान्य कृति के लक्ष्यो का निर्माण करनेवाले हो गये है, बल्कि इस बात के काबिल भी बन गये हैं कि सामान्य कृति के ऊपर स्वय अपनी कृति की विशेषताओ को थोप सकें और अपने समय की प्रवृत्ति पर अपने चरित्र की छाप छोड़ सके। लेकिन यह बात सामान्य कृति की सत्यता की विरोधी नही है, क्योंकि सामान्य कृति अनिवार्यतः बहुत जटिल होती है और वास्तव में कृति की एकताओं (will-unities) की एक श्रृंखला है।

वुन्ट के सिद्धान्त में यह गुण है कि इसमें सामान्य कृति को व्यक्तिगत मनों से स्वतत्र सत्ता नही माना गया है और यह भी कि इसमे सामान्य कृति के अन्दर छोटी-छोटी इकाइयों के अस्तित्व के लिये गुजाइश रखी गई है। लेकिन साथ ही इसका खतरनाक रूप से ग़लत अर्थ लगाये जाने की भी गुजाइश है। इसमें मूल दोप सवेदना (presentation) शब्द की घातक द्वयर्थकता के कारण पैदा होता है। इस कथन की सत्यता की जांच करने का यह स्थान नही है कि सवेदनाए स्वयं कृति की क्रियाएं होती है। फिर भी इतना तो माना ही

जायगा कि यदि संवेदनाओं का स्वरूप कृति या क्रिया का है तो जिस क्रिया (activity) की बात कही गई है वह **वह क्रिया** नही है जिसके द्वारा संवेदनाओं की चेतना होती है। अगर इस अन्तर को मान लिया जाय तो ऊचे किस्म की कृति-ग्रन्थियों को व्यक्तिगत कृति के बराबर सत्यता रखनेवाली मानने के कारण खत्म हो जाते है। यह इसलिए कि जिन क्रियाओ के द्वारा संवेदनाओं की चेतना होती है वे हमेशा ही व्यक्तिगत विशिष्ट क्रियाएं होती हैं, हमेशा अलग-अलग व्यक्तियो की क्रियाएं होती है, हालांकि यह सम्भव है कि कई व्यक्ति आपस मे एका करें, एक शरीर की तरह काम करें, समान सवेदनाओं को प्राप्त करें अर्थात् एक ही वस्तुओं को देखें और एक ही आदर्शो को अपना लक्ष्य बनावे।

जिस अन्तर का उल्लेख किया गया है स्वयं वुन्ट ने प्राय: उसकी उपेक्षा की है। उदाहरण के लिये, उसने संवेदनात्मक क्रिया और संवेदन को एक ही कहा है, और अगर इस मत को उसके इस दूसरे मत से मिला दिया जाय कि आत्मा की सत्ता क्रिया मे निहित है, तो "मनो-द्रव्य" के सिद्धान्त ("mind stuff" theory) और सामूहिक चेतना के सिद्धान्त, जैसा कि डर्कहीम का है, के लिये दरवाजा खुल जाता है। डर्कहीम ने सवेदनाओं (presentations) को "अशत: स्वतंत्र" सत्ताए माना है जिनके अन्दर परस्पर आकर्षण की तथा एक से एक नये सश्लिष्ट रूपों का निर्माण करने की शक्ति होती है। इस प्रकार डर्कहीम के अनुसार सामाजिक अथवा सामूहिक सवेदनाओं का निर्माण होता है जो कि सामाजिक मन की सम्पत्ति होती है और व्यक्तिगत मन के "बाहर" रहनेवाली कही जाती है; और यद्यपि डर्कहीम प्राय: साफ-साफ़ कहता है कि सामाजिक सवेदनाएं केवल व्यक्तिगत मन में ही रह

सकती है, फिर भी वह यह भी कहता है कि सामाजिक मन एक वास्तविक सत्ता है, व्यक्तिगत मनों के अतिरिक्त है और एक नई **स्वयंभू** (अपने किस्म की अकेली) सृष्टि है। इस प्रकार वह सामूहिक चेतना को मानसिक जीवन का उच्चतम रूप और **चेतना की चेतना** कहता है।* एक दृष्टि मे सवेदनाओ की अन्तर्वस्तुएं स्वतंत्र अस्तित्व रखती है। उदाहरण के लिये, पुराणो (mythologies) का विचारो की आपस मे बार-बार सयुक्त होने की एक तरह की स्वाभाविक शक्ति के द्वारा विकसित होने का एक तरीका होता है। लेकिन इसका सही मतलब यह है कि जब एक विचार एक दफे किसी व्यक्ति के मन में आ जाता है और उससे दूसरों के मन में पहुच जाता है, तब वह दूसरो के विचारो को बदले बगैर नही रहता। फिर भी इस आधार पर यह कहना आवश्यक नही है कि सामूहिक संवेदनाओं से एक मन, आत्मा या चेतना का निर्माण होता है।

अब हम सामान्य कृति के उस सिद्धान्त पर विचार कर सकते है जो प्रो० बोसान्क्वेट ने और थोड़े से परिवर्तित रूप में अन्य अध्यात्मवादियों ने पेश किया है। इस सिद्धान्त मे नीचे लिखे तीन आवश्यक तत्व है: सबसे पहिले, यह कहा जाता है कि किसी व्यक्ति की कृति के विशिष्ट कार्य और उसकी कृति के झुकावों की वह समष्टि जिसे हम उसका चरित्र अथवा "स्थायी कृति" ("standing will") कह सकते है, इन दोनो मे एक वास्तविक कृति यानी सच्चे आत्मा की कृति छिपी रहती है। इसका मतलब आदमी का यथार्थ में जो चरित्र होता है वह

* देखिए "Les Formes Elementaires de la vic Religieuse", पृ० २३

नही है, न व्यक्ति के अन्तर मे छिपी हुई स्थायी प्रकृति या झुकाव है, बल्कि इसका मतलब है एक बौद्धिक या शुभ आत्मा (rational or good self), एक आदर्श कृति जो "आदमी के लिये सर्वोत्तम जीवन क्या है, इसके पूरी तरह से स्पष्ट विचार" के ऊपर आधारित होती है। दूसरा, यह दलील दी जाती है कि आदर्श कृति अनिवार्यत: सामाजिक प्रकृतिवाली है, सभी व्यक्तियो मे प्रकार की दृष्टि से बिल्कुल एक ही है, और इसलिए एक कृति है। और तीसरा, यह एक कृति जिसको 'वास्तविक" (real) या "सामान्य" (general) कहा गया है, राज्य मे मूर्तिमान् होती है।

यहा पर मै इनमे से पहिली दो बातों पर ही विचार करूंगा।

(क) सबसे पहिले वास्तविक कृति को व्यावहारिक (actual) कृति से अर्थात् व्यक्ति की साधारण दैनिक जीवन मे जो कृति होती है उमसे भिन्न माना गया है। व्यावहारिक कृति के काम अपूर्ण, अधूरे, आशिक होते है और इनसे इनके पीछे रहनेवाली एक ऐसी समष्टि का सकेत मिलता है जिससे इनको सार्थकता प्राप्त हो सकती है—यह समष्टि आपस मे जुडी हुई चेष्टा-वृत्तियो या झुकावो की समष्टि है, जो सगठनकारी तत्वो के कारण एक साथ बधे रहते है। इन तत्वो की हमे चेतना हो सकती है और कहा जाता है कि अगर व्यक्ति को इनकी चेतना न भी हो तब भी ये उसके व्यवहार मे अवश्य ही छिपे रहते है। यहा तक तो माना जा सकता है, लेकिन इन दलीलो से यह निष्कर्ष नही निकलता कि वास्तविक कृति बौद्धिक या शुभ कृति है। इससे निश्चय ही इनकार नही किया जा सकता कि ज्यादेतर व्यक्तियो की स्थायी कृतिया बौद्धिक नियमो से शासित होनेवाली सामजस्यपूर्ण एकताए बिल्कुल नही होती। अत: ऐसा लगेगा कि वास्तविक कृति से

मतलब मात्र स्थायी कृति का नही है जो कि व्यक्तियों के अन्दर वास्तव में रहती है, बल्कि आदर्श कृति का है अर्थात् उस कृति का जिसकी तरह हरेक कृति को होना चाहिए। लेकिन यह कहा जाता है कि इस तरह की आदर्श कृति व्यावहारिक कृति में छिपी रहती है, क्योंकि कार्य का कोई भी विषय कभी पूरी तरह से सन्तोषजनक नही होता, हमारे पूर्ण स्वरूप की सभी मांगो को पूरा नही करता। किसी एक क्षण मे हम नही जानते कि हम वाकई चाहते क्या है, हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व को कौन-सी चीज पूरी तरह सन्तुष्ट कर पायेगी। यह मालूम करने के लिये कि हम वस्तुतः क्या चाहते है, हमे उस क्षण की अपनी इच्छाओ की तुलना अपनी अन्य क्षणो की इच्छाओ के साथ, दूसरे लोगो की इच्छाओ के साथ, करनी चाहिए; संक्षेप मे हमें एक अच्छे और सामजस्यपूर्ण जीवन के हेतुओं को मालूम करने के लिये आलोचना और जाच की प्रक्रिया अपनानी चाहिए; और जब यह प्रक्रिया पूरी हो जायगी तब हमारी अपनी कृति एक ऐसी शक्ल मे हमारे पास वापस आ जायगी जिसे हम शायद पहिचान ही नही पायेंगे। कहा जाता है कि यह पुनर्निर्मित कृति ही हमारी वास्तविक कृति है। अतः यह कृति बौद्धिक या शुभ कृति है, ऐसी जैसा कि कृति को होना चाहिए, ऐसी कृति जो पूर्णता के विचार के द्वारा निर्धारित होती है; और यद्यपि जिसको हम जान बूझकर अपना लक्ष्य बनाते है उससे यह कही ऊंची है, फिर भी यह उसमे छिपी रहती है, क्योंकि एक मात्र यही व्यावहारिक जीवन को सार्थकता प्रदान कर सकती है।

इस दलील का मूल्य मुझे दो बातों पर निर्भर लगता है: (१) इस सवाल पर कि जो किसी व्यक्ति की व्यावहारिक कृतियो मे "छिपी हुई" है वह किस अर्थ मे उसकी कृति कही जा सकती है, और (२) इस

प्रसंग में "वास्तविक" शब्द का अर्थ क्या है, इस पर। अगर कृति शब्द का अर्थ व्यवहारत: होनेवाली चुनाव की चेतन प्रक्रिया है, तो यह सम्भव नही है कि किसी आदमी की कृति में ऐसी चीज़ भी शामिल हो जिसकी उसे स्पष्ट जानकारी नहीं है। फिर भी हो सकता है कि कृति शब्द के अर्थ को इस तरह से संकुचित कर देने से कुछ असुविधा हो। आधुनिक मनोविज्ञान ने हमे इस तथ्य से परिचित कर दिया है कि प्रायः हमारी चेतन इच्छाएं और प्रेरक केवल हमारे मन की गहराई में पड़ी हुई उन इच्छाओं को छिपाने का काम करते हैं जिनका हमें ज्ञान नही होता, और तब यह कहना कि ये गहरी इच्छाए हमारी सच्ची कृति से सम्बन्ध नही रखती शब्दो मे दोष देखना मात्र होगा। लेकिन इसको स्वीकार करने पर भी यह मानने का कोई कारण नहीं है कि किसी एक व्यक्ति के अन्दर इस तरह के गहरे छिपे हुए प्रेरकों के मिल जाने से और उनको पूरी तरह से गिन लेने से एक बौद्धिक या शुभ कृति प्रकट हो जायगी। इसके विपरीत, ऐसा होने से तो गहरे मानसिक द्वन्द्व (conflicts) ही प्रकाश में आवेंगे। फिर, "छिपी हुई" से मतलब उन सब व्यवहारो, योजनाओ और लक्ष्यों का हो सकता है जिनका उसके किसी विशेष इरादे से किये हुए कार्य में शामिल होना व्यक्ति उस कार्य के ऊपर आलोचनात्मक ढंग से विचार करने के बाद स्वीकार कर सके। यहा भी यह मानने का कोई कारण नही है कि जीवन की इस तरह की योजना अवश्य ही बौद्धिक या शुभ होगी, हालाकि निस्सन्देह व्यक्ति को वह ऐसी लग सकती है। अतः ऐसा प्रतीत होगा कि ऊपर की दलील मे "छिपी हुई" का मतलब उन सभी कार्यों से होना चाहिए जिनका किसी व्यक्ति के एक या अधिक कार्यो में शामिल होना एक पूर्णतया बौद्धिक व्यक्ति को मालूम हो सके। अब यह सवाल

उठता है कि इस "छिपी हुई" चीज को पूर्णतया बौद्धिक व्यक्तियों को नही बल्कि साधारण लोगो की वास्तविक कृति किस अर्थ मे कहा जा सकता है? मै समझता हूं कि इस मत को माननेवाले विचारको के मन मे जो बात है वह यह है कि नैतिक और राजनीतिक कर्तव्य की बुद्धि को तब तक नही समझा जा सकता जब तक हरेक व्यक्ति के मन में एक सबसे अच्छे और अन्तिम शुभ के विचार की मौजूदगी, चाहे वह विचार अस्पष्ट ही क्यों न हो, न मान ली जाय। कभी-कभी इस बात को जिस तरीके से कहा जाता है उससे यह ध्वनित होता है कि जब मै यह कहता हूं कि मुझे यह करना चाहिए तब मेरा मतलब यह होता है कि मै ऐसा करूंगा। इस प्रकार प्रो० बोसान्क्वेट ने कहा है: "कृति जो स्वय अपने को अपना विषय बनाती है, उसकी बाध्यतामूलक माग हमारी ही सबसे अन्दरूनी प्रकृति है और इसे हम हटा नही सकते। यही राज-नीतिक बाध्यता का मूल है।" इसके विरुद्ध यह कहा जाना चाहिए कि हालाकि यह दलील दी जा सकती है कि नैतिक दृष्टि से जो कर्तव्य है उसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कृति का विषय बनने योग्य होना चाहिए, फिर भी जैसे ज्ञात वस्तु और उसका ज्ञान एक ही चीज नही है वैसे ही नैतिक कर्तव्य और उसका कृति का विषय बनना एक ही चीज नहीं है। यह तथ्य कि मै या मेरा सच्चा आत्मा या कोई और किसी चीज को करने का इरादा करता है, उसकी कर्तव्यता का पर्याप्त कारण नहीं है, वह कर्तव्य तभी हो सकता है जब यह दिखाने के लिये कारण मौजूद हो कि उसका किया जाना शुभ है। दूसरे शब्दों मे, नैतिक व्यवस्था एक व्यक्ति-निरपेक्ष (objective) चीज है और नैतिक बाध्यता इस व्यवस्था की हमसे मांग है, लेकिन न तो नैतिक व्यवस्था और न नैतिक बाध्यता ही कृति के कार्यों से अभिन्न है, चाहे वह कृति मनुष्य की हो चाहे ईश्वर की।

ऊपर जिस गलत धारणा की ओर सकेत किया गया है उसे एक तरफ रखकर हम यह मान सकते है कि नैतिक बाध्यता (moral obligation) की बुद्धि और नैतिक व्यवहार मे निश्चित रूप से सम्भावित पूर्णता की बुद्धि छिपी रहती है, एक सर्वोच्च शुभ की धुधली सी चेतना व्याप्त रहती है, जो व्यक्ति या व्यक्तियों के समाज मे स्वय को प्रकट करने के लिये बराबर सचेष्ट रहता है। लेकिन क्या इसे वास्तविक कृति कहना और इसके विरुद्ध व्यावहारिक कृति को मिथ्या या आशिक ठहराना ठीक हो सकता है? निश्चय ही यह कहना एक बात है कि हमारी अपनी कृति मे एक सम्भावित शुभ का विचार छिपा हुआ है और यह कहना बिल्कुल दूसरी बात कि इस तरह का शुभ वास्तविक कृति का विषय है। आखिरकार सर्वोच्च शुभ का विचार एक अनिश्चित मान्यता (assumption) मात्र है और प्रकृति की समरूपता के नियम की तरह है जो कि एक मान्यता है और वैज्ञानिक गवेषणा मे छिपा हुआ माना जाता है, इस मान्यता मात्र से व्यवहार की विस्तृत बातो के बारे मे कोई निष्कर्ष नही निकाला जा सकता। लेकिन इसको वास्तविक कहने से यह इतना निश्चयात्मक बना दिया जाता है जितना यह है नही, और आगे जब इसे और सामान्य कृति को जो कि कानून मे मूर्त्तिमान् होती है, अभिन्न मान लिया जाता है, तब इसका परिणाम बहुत ही घातक हो जाता है, क्योकि तब इस दलील के लिये पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है कि सामान्य कृति व्यक्ति को जो कुछ करने के लिये कहती है वह वास्तव में स्वयं व्यक्ति अपने से कहता है और इस तरीके से व्यक्ति के मामलों मे हस्तक्षेप किसी भी सीमा तक सैद्धान्तिक दृष्टि से उचित हो जाता है।

इस प्रसग मे "वास्तविक" (असली) शब्द के इस्तेमाल के पीछे

"वास्तविकता की मात्राओं" (degrees of reality) का अध्यात्मवादियो का सिद्धान्त छिपा हुआ है, यहां जिसकी परीक्षा करना सम्भव नही है। मै कहूगा कि कोई चीज या तो वास्तविक है या नही है और कि व्यावहारिक कृति ठीक उसी तरह वास्तविक है जैसे "वास्तविक" कृति, अगर वास्तविक कृति से मतलब स्थायी कृति का हो तो, हालाकि व्यावहारिक कृति इस दूसरी कृति की अपेक्षा परिवर्तनशील होती है। इसके विपरीत, जैसा कि मुझे लगता है, अगर वास्तविक कृति से मतलब एक पूर्णयता बौद्धिक कृति का है जिसके साथ अन्योन्याश्रित प्रयोजनों की एक निश्चित रूप से विकसित समष्टि हो, तब इस तरह की कृति वास्तविक बिल्कुल नही है बल्कि आदर्श है।

(ख) **सामान्य कृति**. अतः वास्तविक कृति बौद्धिक या शुभ कृति है, अर्थात् ऐसी कृति है जैसी कृति को होना चाहिए। ऐसी कृति के बारे मे यह दलील दी गई है कि यह प्रकार और अन्तर्वस्तु की दृष्टि से सभी व्यक्तियो मे एक ही होती है। यह एक सम्मिलित कृति अर्थात् सबकी कृति मात्र नही है, बल्कि एक तरह का जोड़नेवाला तागा है जो सब व्यक्तिगत कृतियों में व्याप्त रहता है, एक "सामान्य" (universal) है (बोसान्क्वेट ने जिस अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग किया है उस अर्थ मे) अर्थात् एक योजना है जो विशेष कृतियों मे अपने को पूरी करती है, लेकिन व्यावहारिक कृति की अपेक्षा ज्यादा स्थायी और बड़ी है। दूसरे शब्दों में, सभी बौद्धिक कृतियों की अन्तर्वस्तु एक "मूर्त सामान्य" (concrete universal) है अर्थात् उन अन्योन्याश्रित लक्ष्यो और प्रयोजनों की समष्टि है जो मानव-स्वभाव की मांगो को पूरी तरह से सन्तुष्ट कर देगे। अन्तर्वस्तु की इस तरह की एकता से एकद्रव्यता और अस्तित्व की अविच्छिन्नता के एक होने का

अनुमान होता है और तब सामान्य कृति एक व्यक्ति, एक सार्वजनिक आत्मा, एक कृति, एक अनुभव व्यक्ति जिसके अपूर्ण प्रकाशन है, कही जानी है। इस प्रकार समाज एक अकेला अनुभव, मानसिक अन्तर्वस्तुओं की एक अविच्छिन्न और एक समान बनी रहनेवाली सत्ता मान लिया जाता है। जिन विशेष व्यक्तियों के अन्दर और जिनके द्वारा यह "सामाजिक सामान्य" (social universal) अपनी उपलब्धि करता है वे इस समष्टि के अन्दर थोड़ा-बहुत स्पष्ट, अन्तर्वस्तु के सगठन या योग है। सबके अन्दर समष्टि की सक्रिय आत्मा या रूप निवास करता है और इसका नतीजा यह होता है कि वे एकता और व्यक्तित्व अर्थात् पूर्णतया स्पष्ट अनुभव की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते है। जहा तक वे सफलता प्राप्त करते जाते है वहां तक वे अधिकाधिक स्पष्ट होते जाते है और अन्त में जो एक अकेला स्पष्ट अनुभव है जो कि समष्टि ही है उसके साथ एकाकार हो जाते अर्थात् उसमें विलीन हो जाते हैं। इसलिए, पृथक् रहना व्यक्ति का तात्विक स्वभाव नही है, क्योंकि द्रव्य और अन्तर्वस्तु की दृष्टि से व्यक्तियों के मन और कृतियां सामान्य (universal) है।

इस युक्ति का आधार यह मान्यता है कि अन्तर्वस्तु की एकता मे अस्तित्व की एकता शामिल रहती है। सीमित व्यक्तियो की सभी बौद्धिक कृतियों का कहा तक अन्तर्वस्तु की दृष्टि से एक होना आवश्यक है, इस सवाल को (यद्यपि मुझे ऐसा नही लगता कि यह सिद्ध हो गया है) अलग रख देने पर भी इस बात पर ध्यान दिया जा सकता है कि स्वयं बोसान्क्वेट ने मानसिक सत्ताओं के रूप में विचार और अन्तर्वस्तुओं के रूप में विचार के अन्तर की ओर हमारा ध्यान खीचा है; और पहिली नज़र मे ऐसा

लग सकता है कि अगर एक दफे ऐसा भेद कर दिया जाता है,तो समाज में मनों की एकता की दलील जो कि उनके अनुभव की समानता पर आधारित है, छिन्न-भिन्न हो जाती है। इसका कारण यह है कि यद्यपि अन्तर्वस्तुओ के रूप मे विचार एक हो सकते है, लेकिन मानसिक सत्ताओं के रूप मे वे कभी एक नही हो सकते। जब दो आदमियो को एक ही वस्तुओ की चेतना होती है तब मानसिक घटनाओ के रूप मे देखे जाने पर उनके चेतना के कार्य एक कदापि नही हो सकते, हालांकि उनका एक जैसा होना माना जा सकता है। ऐसा लगता है कि प्रो० बोसान्क्वेट ने स्वयं कही-कही इस बात को स्वीकार किया है। इस प्रकार उनका कहना है· "जिसे हमने आत्माओ का रूप-विषयक भेद कहा है उससे इनकार करने की कोशिश कोई नही करेगा। इस भेद का मतलब यह है कि अनुभव के एक सीमित केन्द्र का दूसरे के अपरोक्ष अनुभव को स्वयं अपने अपरोक्ष अनुभव के रूप में ग्रहण करना असम्भव है।"* फिर भी ऐसा लगेगा कि इस रूप-विषयक भेद की मौलिक अभेद से संगति है। इसका स्पष्टीकरण क्या है? मुझे तो ऐसा लगता है कि प्रो० बोसान्क्वेट मानसिक अस्तित्व जिसे उन्होने अपरोक्षता (immediacy) कहा है और मानसिक अन्तर्वस्तु के भेद को गम्भीरतापूर्वक नही मानते और वस्तुत: पहिले की सच्चाई से इनकार करते है। अपरोक्षता या मानसिक अस्तित्व को मानसिक कार्यो या घटनाओं की शृंखला का, जिसे हम मन कहते है, अंश नही माना गया है। "यह अनुभव की एक अवस्था है, एक परत नहीं।"† इसका

---

* "The Value and Destiny of the Individual", पृ० ४७।

† "Logic" vol. २, पृ० ३०१।

मतलब शायद यह है कि यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें अन्तर्वस्तुएं जा सकती है और जिससे बाहर निकल सकती है। संवेदना के कार्य वे रूप है जिन्हे अन्तर्वस्तुएं ग्रहण कर सकती है, और उन्होने भी उनको ऐसा ही कहा है। "सवेदना की कोई भी अन्तर्वस्तु हमारे मन की अवस्था बन सकती है।" "हमारी वस्तु-सम्बन्धी सवेदना एक ऐसी चीज है जो एक मानसिक अवस्था की शक्ल ग्रहण कर सकती है यानी अपरोक्ष बन सकती है।"* अन्तर्वस्तु को अविच्छिन्न रहनेवाली चीज माना गया है, जिसका सवेदना के कार्यों से पहिले ही स्वतंत्र अस्तित्व रहता है, और संवेदना के कार्य उसके सीमित रूप मात्र है, उसके विभाजन के परिणाम है, जो इस तथ्य के कारण माना गया है कि वे अलग-अलग शरीरो पर निर्भर होते है। इस प्रकार हमें यह बताया गया है कि अलग-अलग व्यक्ति "अन्तर्वस्तु के संगठन हैं जिनको आम तौर पर प्रकार का भेद एक-दूसरे से बिल्कुल घुल-मिल जाने से रोकता है, हालांकि यह प्रकार-भेद शरीरों के भिन्न होने पर अनिवार्यतः निर्भर नही होता।" फिर भी अन्तर्वस्तु की दृष्टि से उनको अभिन्न और एक माना जाता है।

जो कुछ कहा गया है उससे यह साफ़ हो जाता है कि मनों के संगम के अथवा एक बडे मन में उनको शामिल करने के पक्ष में जो दलील है वह सारी की सारी अन्तर्वस्तुओं को वास्तविक सत्ताएं मानने के और अनुभव के कार्यो की सच्चाई से इनकार करने के ऊपर आधारित है। इस मत के खिलाफ यह कहा जा सकता है :

(१) अन्तर्वस्तुएं मन की अवस्थाएं कभी नही बनतीं। अन्तर्वस्तुओ का स्वरूप सामान्य (universal) का है और उनकी सत्ता उसी

---

* वही, पृ० ३००।

प्रकार की होती है जिस तरह की सत्यता (truth) को। मानसिक अवस्थाएं कुछ समय लेनेवाली प्रक्रियाएं या घटनाए होती है।

(२) अन्तर्वस्तुओं को सवेदना के कार्य से पहिले ही स्वतंत्र अस्तित्व रखनेवाली चीज़ नही माना जा सकता। उनको चेतना के कार्यो का स्वभाव कहना ज्यादा ठीक है, जो कि चेतना के कार्य का किसी वस्तु को अपना विषय बनाने का फल होता है। स्वभाव होने की वजह से अस्तित्व शब्द को उनका विशेषण बनाना गलत है।

(३) इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दो व्यक्तियो के चेतना के कार्य या एक ही व्यक्ति के अलग-अलग समयों के चेतना के कार्य, जो एक ही वस्तु के ऊपर केन्द्रित रहते है, एक-दूसरे से सादृश्य रखेंगे, और अगर हम इस तरह के सभी कार्यो को जोड़कर एक शब्द, अनुभव, मे शामिल करना चाहें, तो हम कह सकते है कि अनुभव एक सामान्य है, इस अर्थ मे कि यह आपस मे सादृश्य रखनेवाली अथवा स्वभाव की एकता रखनेवाली वस्तुओं (यानी कार्यो) का एक वर्ग है। लेकिन दो ऐसे कार्य जिनकी अन्तर्वस्तुए बिल्कुल वही है, फिर भी दो कार्य रहेगे और इसी तरह से दो मन भी दो मन रहेंगे।

(४) फिर भी यह सवाल पूछा जा सकता है : क्या विचार या कृति के मामले मे, अन्तर्वस्तु की एकता या अभिन्नता कृति या विचार के अलग-अलग कार्यो के अस्तित्व में इस तरह से प्रविष्ट नही रहती कि अन्तर्वस्तु की एकता अस्तित्व की एकता में बदल जाय? मुझे ऐसा लगता है कि जो विचारक इस तरह की दलील देते है वे ऐसा इस वजह से करते है कि वे अन्तर्वस्तुओ या स्वभावों को सचमुच अस्तित्व-वान् मानते है, और खास तौर से, अगर इस समस्या को आदर्शो और उद्देश्यो की दृष्टि से देखा जाय, उनके इस विश्वास की वजह से कि

आदमियो के आदर्श और उद्देश्य एक तरह से परम मन मे **पहले ही पूरे** हो चुके है। इस प्रकार प्रो० बोसान्क्वेट ग्रीन के इस कथन को स्वीकार करते हुए उद्धृत करते है कि "जिसका विकास हो रहा है वह जब स्वय एक आत्म-चेतन व्यक्ति है, तब उसके विकास के लक्ष्य का सचमुच अस्तित्व रहना चाहिए, न केवल उस आत्म-चेतन व्यक्ति के लिये, बल्कि एक आत्म-चेतन व्यक्ति के अन्दर या उसके रूपमें भी। इस तरह के व्यक्ति का शाश्वत अस्तित्व होना चाहिए, और समय के साथ विकास करनेवाले अत्म-चेतन व्यक्ति के अन्त मे जिस रूपको प्राप्त करने की सम्भावना है वह यही है, इस शाश्वत व्यक्ति के रूपमें मनुष्य के आत्मा का आदर्श अर्थात् जो कुछ बनने की वह आकाक्षा रखता है, पूरी तरह से सिद्ध है।" इसी तरह प्रो० म्यूरहेड (Muirhead) की दलील है कि यद्यपि कार्य व्यक्तियों के होते है, तथापि "उनके प्रयोजन, जहा तक उनके अन्दर सामजस्य है, उन प्रयोजनों की समष्टि में शामिल हैं जो हमारे मत से केवल वही तक सत्य हो सकते है जहा तक वे सारे विश्व के मन (Universal Mind) के प्रयोजन है;" और प्रो० म्यूरहेड साफ-साफ़ कहते है कि सर्वोच्च मन के अन्दर सीमित मनों के तात्पर्यो और प्रयोजनो को **किसी रूपमें सिद्ध होना** चाहिए।* मुझे यह सब आदर्शो का वास्तवीकरण (hypostatization) और सत्य (truth) और सत्ता (existence) के बीच अन्तर न मानना लगता है। आदर्श विचार और कृति की अन्तर्वस्तुएं है, और मैं यह मानने मे असमर्थ हू कि उनके

* "Problems of Science and Philosophy", पृ० १३३।

अन्दर पाई जानेवाली अस्तित्वहीनता उस समय बदल जाती है जब उनको सोचनेवाला मन ईश्वर का मन होता है। मेरी समझ मे यह बात भी नही आती कि मनों के बीच अस्तित्व की एकता पर जोर देने से धार्मिक या सामाजिक जीवन की क्या भलाई होती है। क्या इतना दिखाई देना काफी नही है कि उनके उद्देश्य समान होते है और वे एक ही आदर्शो को पाने की कोशिश करते है? प्रो० बोसान्क्वेट यह दलील देते है कि व्यक्ति की स्थायी कृति, उसकी परस्पर सम्बन्धित कृतियो की समष्टि दूसरे व्यक्तियों की उसी तरह की समष्टियों को अपने अन्तर्गत समाविष्ट करती है और उन समष्टियो मे समाविष्ट रहती है: और इसमे वे यह निष्कर्ष निकालते है कि सबको अपने मे शामिल करनेवाली एक ही समष्टि का अस्तित्व है, सब विशेष कृतिया जिसके सीमित रूप या अंश है।* इस दलील को छोड कर कि कृतियो की इस तरह की समग्र समष्टि एक तथ्य नही है बल्कि एक आदर्श है, मुझे यह स्पष्ट मालूम होता है कि इस तरह की समष्टि मे जिस क़िस्म की एकता प्रकट होगी उससे कृतियों के सगम की समस्या पर कोई भी रोशनी नही पड़ती। अगर यह बात मान भी ली जाय कि इस तरह की समग्र समष्टि के एक अंश को अपना विषय बनानेवाली कोई भी कृति "परोक्षतः" उस समष्टि के शेष हिस्से को भी अपना विषय बनाती है, तब भी केवल इतना ही निष्कर्ष निकलेगा कि सभी विशेष कृतिया एक ही वस्तु को अपना विषय बनाती है, लेकिन यह निष्कर्ष फिर भी बिल्कुल नहीं निकलेगा कि कोई एक विशेष कृति अस्तित्व की दृष्टि से किसी भी अन्य कृति से अभिन्न है या समाज की

---

* "Mind", January, 1920, पृ० ८०।

कृति से अभिन्न है। इस तथ्य मे कि मेरे लक्ष्यों की प्राप्ति अन्य व्यक्तियो के अस्तित्व पर निर्भर है और उनके लक्ष्यो की प्राप्ति मेरे अस्तित्व पर यह सिद्ध नहीं होता कि वे मै हू या मै वे, और मानसिक कार्यो की वह अविच्छिन्न शृखला जो एक आत्मा का एक पहलू है, इस वजह से अपने अस्तित्व की एकता नही खो देती कि उन कार्यो की अन्तर्वस्तुए स्वभाव की दृष्टि से दूसरी आत्मा के मानसिक कार्यो की अन्तर्वस्तुओ से अभिन्न है।

एक दूसरे तरीके से भी प्रो० बोसान्क्वेट ने यह दिखाने की कोशिश की है कि समाज और व्यक्तिगत मन अलग-अलग दृष्टिकोणों से देखने पर असल मे एक ही ताना-बाना या रचना रखते है। कहा है कि मन विचारों की समष्टियों से बना रहता है जिनमे से हरेक का एक अपना नियामक या प्रधान विचार रहता है। सामाजिक सस्थाएं या सामाजिक समूह भी विचारो की समष्टियों से बने होते है, और ये समष्टिया एक ऐसे प्रधान उद्देश्य के द्वारा एक साथ बधो रहती है जो उनको आपस मे जोडकर समग्र समूह के कार्य की पूर्ति को सम्भव बना देता है। एक सामाजिक सस्था कई मनों के सम्मेलन का स्थान होती है, दूसरे शब्दों मे 'आत्म-चेतन समष्टियों की एक समष्टि है जिसके द्वारा उन समष्टियो मे भाग लेनेवाले मन आपस मे सम्पर्क स्थापित रखते है।" इसके बाद सामाजिक समूह जिनमे से हरेक का अपना प्रधान उद्देश्य रहता है, एक-दूसरे की सहायता या समर्थन कर सकते है, अथवा वे परस्पर विरोध भी रख सकते है, लेकिन मूलत: वे एक ही व्यापक जीवन के अंग है और अन्त में उनमे समझौता होना अनिवार्य है। इस दृष्टि-कोण से समाज एक अविच्छिन्न या हमेशा एक रहनेवाली सत्ता का स्वभाव रखता है और इसमे जो क्रियाए होती है वे अपने अन्तरों के

कारण एक-दूसरे के काम आती है तथा एक पूरी तरह से सयुक्त समष्टि या "दुनिया" का निर्माण करती हैं। यह निश्चय ही सही है कि समाज और व्यक्ति एक ही तत्वों से बनते है क्योंकि समाज व्यक्तियों से बनता है। लेकिन इसमे दो बातें है: एक यह कि जब तक हम चेतना की अवस्थाओ के मिश्रण में यकीन नही करते या कार्य और अन्तर्वस्तु के भेद से इनकार नही करते, तब तक इस दलील से यह सिद्ध नही होता कि सामाजिक मन उसी अर्थ मे अस्तित्व की एकता रखता है जिस अर्थ मे चेतना की अवस्थाओं की वह श्रृंखला जिसे हम मन कहते है, अस्तित्व की एकता रखती है; तथा दूसरी यह कि हमारे सामने जो समस्या है वह यह है कि सामाजिक कार्यों या सामाजिक मन के निर्णयों में, सामाजिक सस्थाओं के उद्देश्यों में, व्यक्ति का स्वभाव पूरा-पूरा आ जाता है या नही। ऐसा लगता है कि प्रो० बोसान्क्वेट व्यक्तियों और उनके उद्देश्यों से नही शुरू करते, बल्कि सामान्य "मानव-स्वभाव" से, उसे एक किस्म की व्यापारों या उद्देश्यों की एक सगठित योजना मानकर शुरू करते है, और सैद्धान्तिक रूप से व्यक्तिगत अस्तित्व अथवा "आकार की विलक्षणता" के साथ द्रव्य या अन्तर्वस्तु की विलक्षणता का होना जरूरी है; हरेक सीमित व्यक्ति का समाज मे एक विशिष्ट कार्य होना चाहिए—ऐसा कार्य जिसे कोई दूसरा व्यक्ति नही कर सकता। इस तरह का व्यक्ति "सामाजिक सामान्य का एक सच्चा विशेष" होगा। अगर ऐसा होता, तो प्रो० बोसान्क्वेट के मत में, फिर भी आत्माओं को परस्पर पृथक् मानने का कोई कारण न होता, क्योंकि तब व्यक्तिगत मनो को एक अकेली समष्टि के आवश्यक अंग मानना पड़ता, और ये आवश्यक अग समष्टि होते, अर्थात् वे रूप होते जिनमे सामान्य अपनी अभिव्यक्ति करता है या विशिष्ट रूप ग्रहण करता है। यह बादवाली

दलील स्पष्टतया प्रो० बोसान्क्वेट के "मूर्त्त सामान्य" के सिद्धान्त पर आधारित है, और जो इस सिद्धान्त को नहीं मानता वह यह कह सकता है कि अंग एक-दूसरे से अभिन्न या उस समष्टि से जिसमें वे शामिल होते है अभिन्न कभी भी नही हो सकते। फिर भी वास्तव मे "एक मन का एक कार्य" वाला सिद्धान्त समाज मे कभी पूरा नही होता। व्यक्तियो की योग्यताएं "अनिश्चित और आकस्मिक" होती है। एक मन दूसरे मनों के अनुभवों को दोहरा सकता है और अंशत. या पूर्णत: अपने अन्दर ला सकता है। एक मन की अन्तर्वस्तुएं "एक चीटी के कार्य की तरह कार्य के लिये जितना काफी होता है उतने से लेकर वहां तक हो सकती है जितना एक ऐसी आत्मा के कार्य के लिये जरूरी है जो एक सम्पूर्ण समाज के ढाचे को और उसके अनेक विस्तार की बातो को अपने अन्दर रखता है।" लेकिन, क्या दोहराने और अशत. अपने अन्दर लेने का जो तथ्य है उससे यह सिद्ध नही होता कि सामान्य "मानव-स्वभाव" को एक व्यक्ति मानना गलत है, क्या उससे यह सिद्ध नही होता कि विशिष्टता भ्रम से कुछ अधिक है और समष्टि मे उसका लोप नही होता? क्या यहा सामान्य "मानव-स्वभाव" अथवा "मानवीय योग्यता या गुप्त शक्ति" जो विशेष अस्तित्ववान चीजों से बिल्कुल नही बनती और समाज जो निश्चय ही तरह-तरह से आपस में सम्बन्धित विशेषो की एक बड़ी सख्या से बनता है, और जो एक किस्म की अपनी विशेष एकता को रखते हुए भी उस किस्म की एकता को कदापि नही रख सकता जो एक प्रत्यय (concept) मे होती है, इन दोनो के बीच मे गड़बड़ी नही है? "सामाजिक सामान्य का सच्चा विशेष", इन शब्दो का मतलब "सामाजिक सामान्य" के मतलब पर निर्भर है। अगर इसका सकेत समाज की ओर है, तब हरेक व्यक्ति उसका सदस्य है ही। लेकिन

अगर सकेत उद्देश्यो की एक सगटित योजना या मानवीय योग्यता की ओर है, तब सच्चा विशेष व्यक्ति बिल्कुल नही हो सकता। इसके अलावा, पहिले अर्थ मे "सच्चा विशेष" उन सामाजिक सम्बन्धो में समाप्त नही होता जो व्यक्ति दूसरों से स्थापित करता है। उसके अन्दर एक किस्म का आत्म-निर्णय रहता है, द्रव्य की एकता और अविच्छिन्नता रहती है जिसका इन सम्बन्धों मे विलय कभी नही होता। वह विविध प्रकार के अनेक सम्बन्धों का केन्द्र होता है, जो सम्बन्ध की सामाजिक सस्थाओ मे बहुत ही अधूरी अभिव्यक्ति पाते है, और बजाय यह कहने के कि व्यक्ति "एक विशेष दृष्टिकोण से" समाज का प्रकाशन या प्रतिबिम्ब है, हमको यह कहना चाहिए कि समाज एक विशेष दृष्टिकोण से व्यक्तियो का प्रकाशन या प्रतिबिम्ब है। जो आत्म-चेतन समष्टिया व्यक्तियो और समाज का निर्माण करती है उनमे व्यक्ति-व्यक्ति के दृष्टान्त मे अनुभूति, सवेग और शारीरिक सवेदना के तत्व रहते है जो हरेक मे विलक्षण और दूसरो के लिये अज्ञेय होते है। मै समझता हू कि अब यह साफ़ हो गया होगा कि सामान्य कृति के पक्ष में जो दलील है उसका सच्चा वजन मन की वास्तविक अवस्थाओं के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर या यहा तक कि आम व्यक्तियों के द्वारा समझे गये मानवीय उद्देश्यों पर भी निर्भर नही है, वल्कि एक अनुमानित वास्तविक कृति पर जिसमें सभी मानवीय उद्देश्य एकता और सामंजस्य प्राप्त करते है, निर्भर है। स्वय प्रो० बोसान्क्वेट की यह दलील है कि सम्पूर्ण मानव-जाति की—यहा मानव-जाति एक नैतिक आदर्श है—सामान्य कृति "एक तथ्य के बजाय एक प्ररूप या समस्या" है। अगर हम तथ्यों को देखे तो उनके आधार पर क्या यही बात्त किसी भी राज्य की सामान्य कृति के बारे में नही कही जा सकती? दूसरी ओर, अगर वास्तविक कृति आदर्श कृति

है, अगर खास तौर मे हमारे मन मे उद्देश्यों की एक तार्किक समष्टि है जो किसी अर्थ में विश्व के मन मे पहिले से ही पूरी हो चुकी है, तो क्या मनुष्य जाति की सामान्य कृति, जिसमे राज्यो की कृतिया एकता और सामजस्य प्राप्त कर लेंगी, अलग-अलग राज्यो की सामान्य कृतियों मे जिन्हे मानव-जाति की तुलना में केवल विशेष कहा जा सकता है, ज्यादा वास्तविक नही होगी ? *

सक्षेप मे हम कह सकते है कि .

१ हरेक व्यक्ति के अन्दर और इसलिए व्यक्तियो के समाज के अन्दर भी कोई ऐसी चीज हो सकती है जो सर्वोच्च शुभ की धारणा या पूर्णता के विचार से मेल रखती है। लेकिन इसको "वास्तविक" कृति कहना ठीक नही है। व्यक्तियों की व्यावहारिक कृतियो मे कई तत्व ऐसे हो सकते है जिनका पूर्णता के इस तरह के आदर्श से साम्य नही है, और ये तत्व बिल्कुल वैसे ही "वास्तविक" है जैसी "वास्तविक" कृति। दूसरी ओर, अगर "वास्तविक" कृति से मतलब सगठित उद्देश्यो या लक्ष्यो की एक पूरी तरह से व्यक्त योजना से है, तो इसे वास्तविक कृति नही बल्कि एक आदर्श कहना ही ठीक है।

२. लेकिन इस समस्या की सबसे बडी कठिनाई असल मे इस आदर्श कृति का सामान्य कृति से अभेद करने मे है। इसका आधार अन्तर्वस्तु और अस्तित्व मे अन्तर न समझना प्रतीत होता है; और अगर हम इस अन्तर को अपने मन मे बनाये रखे तो यह अभेद बिल्कुल समाप्त हो जाता है। अगर सभी कृतियों का एक सामान्य वस्तु को

* देखिए Rousseau, "A Discourse on Political Economy".

लक्ष्य बनाना सिद्ध भी हो जाय, तब भी मानसिक अस्तित्व की दृष्टि से वे अलग ही रहेंगी।

३. इस वजह से कि सामान्य कृति नाम की कोई चीज नही है, यह सवाल ही पैदा नही होता कि वह राज्य में प्रकट होती है या नही। इसका मतलब यह नही है कि राज्य और समाज के अन्य रूपों मे एक तरह की एकता नही होती, बल्कि केवल यह है कि उनकी यह एकता उनके सदस्यो के बीच एक सम्बन्ध है जो उद्देश्यों और आदर्शों की समानता पर आधारित होती है, और कि इस एकता को एक वस्तु बनाने की और एक व्यक्ति या कृति मानने की जरूरत नही है।* समाज-शास्त्र के प्रयोजन के लिये जिस चीज की जरूरत है वह सामान्य आत्मा नही, बल्कि सामान्य हित है। यह सिद्ध करने की बिल्कुल जरूरत नही है कि व्यक्तिगत मनो के अन्दर अस्तित्व की एकता और अभिन्नता मौजूद है, बल्कि केवल यह सिद्ध करने की जरूरत है कि उनकी आध्यात्मिक अन्तर्वस्तु एक है, इस अर्थ मे उनको एक ही सामान्य हित के लिये प्रयत्न करना चाहिए और एक ही आदर्शों से प्रेरणा लेनी चाहिए। जब हम यह कहते है कि समाज हर किस्म की पूर्ण सत्ता है, व्यक्ति जिसके प्रकाशन या प्रतिबिम्ब है या यह कि समाज अपने सब सदस्यो को जोड़नेवाला तन्तु है और उन सबमें एक ही है, तब हम असल मे एक सामान्य प्रत्यय (concept) की बात करते है जिसका कोई तार्किक अर्थ हो सकता है, लेकिन जिसे अन्य तथ्यो के साथ अस्तित्व रखनेवाला एक तथ्य नही कहा जा सकता। किसी प्रत्यय के

* देखिए E. Barker, "The Discredited State", "Political Quarterly", 1915.

अन्दर जो एकता पाई जाती है वह उन व्यक्तियों के समूह की एकता नही हो सकती जिन पर वह प्रत्यय लागू होता है।

इस अध्याय के निष्कर्षो को एक साथ लाने की दृष्टि से नीचे लिखी बातों पर जोर देना लाभदायक होगा। सबसे पहिले हम उस भेद की ओर सकेत कर सकते है जो एक विशेष, निश्चित कृति के कार्य और कृति के झुकाव या आदत (अर्थात् उपयुक्त परिस्थितियों मे सकल्प की एक योग्यता) या इस तरह की आदतों के एक सगठन के मध्य होता है। कृति का एक विशेष कार्य और कृति का झुकाव, दोनों ही अनिवार्य रूप से व्यक्तिगत होते है, इसके अलावा कोई और चीज नही हो सकती। दूसरी बात, इन दोनों से बिल्कुल अलग है कृति का विषय अर्थात् जिस चीज का सकल्प किया जाता है, कृति का विषय व्यक्तिगत हो सकता है या एक ही व्यक्ति या अनेक व्यक्तियों की कृति के कई कार्यो मे एक ही हो सकता है। तीसरी बात, कृति के व्यावहारिक विषय से अलग होता है उसका आदर्श विषय जिसे हम शुभ कह सकते है, जिसका स्वरूप चाहने पर निर्भर नही होता और जो वास्तव मे किसी की कृति का विषय हो भी सकता है और नही भी। यह सिद्ध किया जा सकता है कि व्यक्तियो की कृति के कार्य और उनकी कृतियों के स्थायी झुकाव, इनका एक समान विषय होता है, जैसे कि समाज के ढांचे को कायम रखना। इसका होना या न होना तथ्य का सवाल है, और अगर कृति में उस वस्तु के स्पष्ट विचार का मौजूद रहना जरूरी है जिसको लक्ष्य बनाया जाता है, तो ऐसी कृति केवल थोड़े से विवेकशील व्यक्तियो के अन्दर ही पाई जाती है। ज्यादेतर लोगों के अन्दर केवल एक हलकी-सी रुचि मौजूद रहती है जो मूक स्वीकृति और खाली उदासीनता के बीच किसी भी दर्जे की हो सकती है। इसके अलावा, मान लीजिये कि

समाज के ढांचे को कायम रखने की कृति का अस्तित्व सभी व्यक्तियो के अन्दर सिद्ध हो जाता है, फिर भी वह एक समान विषय की सम्मिलित कृति मात्र रहेगी।

कृति के कार्य और झुकावो की संगठित समष्टि जिनका उल्लेख ऊपर हुआ है, व्यक्तियो या समाज मे न तो पूरी तरह से विवेकपूर्ण और सामंजस्यपूर्ण होते है और न उनका ऐसा होना जरूरी ही है। उनके ऐसे होने मे विश्वास करना कृति के विषय ओर शुभ मे अन्तर न कर पाने का नतीजा है। यह चुपचाप मान लिया जाता है कि जिस चीज की चाहना होनी चाहिए वह व्यक्ति की एक कल्पित सच्ची आत्मा के द्वारा या परम मन के द्वारा चाही जाती है। इस वजह से कि जिस चीज की चाहना होनी चाहिए वह विवेकपूर्ण या सामजस्यपूर्ण ही हो सकती है, वास्तविक कृति को उद्देश्यो का एक बौद्धिक सगठन मान लिया जाता है, विशेप कृतिया जिसके अधूरे प्रकाशन है। यहा भी, अगर यह सिद्ध हो सकना मान लिया जाय कि व्यक्तिगत कृतिया विवेकपूर्ण होती है और इसलिए एक सामजस्यपूर्ण शुभ को अपना लक्ष्य बनाती है, तब भी वे सामान्य कृति नही होगी, बल्कि शुभ की एक सम्मिलित कृति होगी। उनके एक सामान्य कृति होने मे विश्वास करना अन्तर्वस्तु और कार्य का भेद न जानने की वजह से है। कार्य हमेशा व्यक्तिगत होते है और न कृति का विषय, न शुभ व्यक्तिगत चेतना का वास्तविक अग होता है, क्योकि वे या तो ऐसी चीजें होती है जिनका अस्तित्व है और जिनका अस्तित्व क़ायम रखना कृति का लक्ष्य होता है, या ऐसी चीजे होती है जिनका अस्तित्व नही है लेकिन हमारी समझ से जिनका अस्तित्व होना चाहिए। किसी भी हालत में वे व्यक्ति के अंग नही होते, अगर हो सकते हैं तो केवल तभी जब कर्ता और कर्म का भेद ग़लत सिद्ध हो जाय।

इसलिए, सामान्य कृति को किसी भी अर्थ में एक और अविच्छिन्न नहीं माना जा सकता।

जो कुछ कहा गया है उससे यह अभिप्राय नही है कि व्यक्ति एक दूसरे से पृथक् सत्ताए है, स्वतंत्र चीजें है, जो अपने अन्दर उन सब बातों को रखते है जिनकी उनके विकास के लिये जरूरत है। यह स्पष्ट है कि अनुभव की अन्तर्वस्तु और अनुभव का रूप, इन दोनों के लिये व्यक्ति ज्यादातर सामाजिक वातावरण का ऋणी है, और कि जो शक्तिया कार्य को निर्धारित करती है वे सामाजिक सम्बन्ध की उपज है और समाज के अन्दर व्यक्तित्वों की परस्पर-क्रिया से पैदा होती है। लेकिन किसी समाज मे काम करनेवाली मनोवैज्ञानिक शक्तियो का ताना-बाना एकता नही रखता, हालाकि अपनी उच्चतम अवस्था मे वे शक्तियां एकता और एकता के अन्दर एकता रखती है।* किसी राष्ट्र की सस्कृति की निम्नतम अवस्थाओ मे, जबकि स्थितिया सभी सदस्यों के लिये बहुत कुछ एक-सी होती है और जब वर्ग-भेद थोडा या बिल्कुल नहीं होता, सदस्यो का स्वभाव बहुत समान होता है और उनकी अनुभूतिया, विचार, रुचिया एक किस्म की होती है। संस्कृति की अधिक विकसित अवस्थाओ मे, यद्यपि किसी समाज के सभी सदस्यो के स्वभाव को निर्धारित करनेवाले आवश्यक प्रभाव मूलतः वही बने रहते है और यद्यपि उनके समान प्रभाव भाषा के विकास से तथा सभ्य समाज की आध्यात्मिक सम्पत्ति की वृद्धि से बढ़ जाते है, तथापि भेद पैदा होने

---

* देखिये Hobhouse, "Social Evolution and Political Theory" तथा G. Schmoller, "Grundriss der Allgemeinen Volkswirtschaftslehre"

लगते है और समूहो की एक भारी संख्या पैदा हो जाती है, जिनमे से हरेक का अपना अलग वातावरण होता है जो उसके सदस्यों के जीवन, कार्य और विचार को बदल देता है। व्यक्ति इनमें से एक या अधिक समूहो के सदस्य हो सकते है और होते है। इसके अलावा ये समूह निरन्तर गतिशील रहते और बदलते रहते है तथा सामूहिक शक्तियो को उत्पन्न करते है जो सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन के परिवर्तनो को निर्धारित करती है। इनमे से कुछ सामूहिक शक्तिया स्थायी संस्थाओं का रूप ले सकती है, लेकिन अन्य केवल एक अस्पष्ट, निराकार क़िस्म का अस्तित्व रखती है और सामाजिक वर्ग-भेद, राजनीतिक दलों, धीरे-धीरे व्यवहार के प्रतिमान बन जानेवाले मूल्य-सम्बन्धी निर्णयो, नियमावलियो, जन-मत मे अभिव्यक्ति पाती है। यह सब मान लेने के बाद भी हम एक सामूहिक मन और कृति के सिद्धान्त को मानने से बहुत दूर है। उल्लिखित मनोवैज्ञानिक तत्वो का ताना-बाना उस किस्म की सत्ता नही रखता जो एक व्यक्ति या आत्मा की होती है, और न उस क़िस्म के प्रभाव को जो यह व्यक्तियो के ऊपर डालता है, एक सामान्य कृति कहा जा सकता है। समाज मे काम करनेवाले और उसकी संस्थाओं, किताबो, कानूनो इत्यादि मे प्रकट होनेवाले विचारो का रहस्यमय होना ज़रूरी नही है। उनमे विशेष बात यह है कि उनकी व्याख्या, उनमे परिवर्तन पुश्त-दर-पुश्त व्यक्तियों के द्वारा होता है और व्यक्ति ही उनको जीवित रखते है। इसके अलावा, विचारो के साम्य से संघो को जो एकता प्राप्त होती है, वह एक सदस्य को उसके समूह से बांधनेवाले बंधनों की निकटता के अनुसार अलग-अलग सघों मे बहुत भिन्न होती है। सामाजिक संगठनों में कोई धार्मिक पवित्रता नही होती। जैसा कि हाल की घटनाओं से सिद्ध होता है, राज्य तक बन-बिगड़ सकते

और बदल सकते है। और सांस्कृतिक प्रभावों के बारे मे निश्चय ही यह आम अनुभव है कि व्यक्ति उनसे अपने को बचा सकते और बचाते हैं, उदाहरण के लिये, व्यक्ति अपनी जाति की भाषा और धर्म को छोड़कर दूसरे अपना लेते है। कोई भी सघ या सघों का समूह आदमी के जीवन को कभी भी पूरी तरह अपने अन्दर समाविष्ट नही कर सकता। इसमें सन्देह नही है कि आदमी एक सम्मिलित जीवन में हिस्सा लेते है और एक सामूहिक उपलब्धि में योग-दान करते है, फिर भी इस जीवन का वास्तवीकरण करने का और उस पर, व्यक्ति एक-दूसरे से सम्बन्ध जोड़कर जैसे जीवनयापन करते है उनकी सत्यता से भिन्न और ऊंचे किस्म की सत्यता का आरोप करने का नतीजा एक उलझन के अलावा और कुछ भी नही हो सकता।

६

जातीय और राष्ट्रीय विशेषताएं

हम ऊपर देख चुके है कि सामाजिक मन की धारणा मे किसी समाज के सदस्योंके अन्दर समान रूप से रहनेवाले मानसिक तत्व शामिल होने है, जैसे, एक तरह की उत्तेजनाओं की समान प्रतिक्रियाए, समान वशानुक्रमिक गठन के कारण होनेवाले व्यवहार के समान तरीके, इत्यादि। इन समान रूपसे पाये जानेवाले तत्वो को ही प्राय सक्षेप मे "लोगों या जाति की आत्मा" (soul of a people) के नाम से अभिहित किया जाता है, और बहुत से लेखको ने तो इस तरह की आत्मा की धारणा का उपयोग लोगो के एक समूह के इतिहास की व्याख्या करने मे किया है, जैसे कि मानो यह किसी सच्ची चीज का नाम हो जो उस समूह को बनानेवाले व्यक्तियों की पीढ़ियो से अलग हो, साथ ही इस धारणा का उपयोग लोगों के अलग-अलग समूहो के आपसी अन्तरों को समझाने में भी किया गया है। इस समस्या का विचार करने में पहिले जातियों (races) और राष्ट्रो (nations) में भेद करना जरूरी है। यहां जो जाति की प्रकृति की बहुत ही मुश्किल समस्या है उसका विवेचन करना हमारे लिये सम्भव नही है। आम तौर पर मानवशास्त्रियों (anthropologists) ने कुछ

शारीरिक विशेपताओं को, जैसे खोपड़ी की लम्बाई-चौड़ाई इत्यादि और शक्ल या रग को, जाति का लक्षण बताया है। लेकिन सम्भावना इस बात की मालूम पडती है कि जिस तरह एक ही परिस्थितियो मे लम्बे अर्से तक निवास करने से, वशानुक्रम और प्राकृतिक चुनाव से, कुछ शारीरिक प्ररूप (somatic types) निश्चित हो गये है, उसी तरह अपेक्षाकृत स्थायी कुछ मानसिक प्ररूप (psychical types) भी निकल आये होंगे। इस बात को याद रखना चाहिए कि जाति की मानसिक विशेषताओं के बारे में निश्चय के साथ अपेक्षाकृत कम ही ज्ञात हुआ है, और जो कुछ भी हो, यह काफी सम्भव है कि जातियो मे इस तरह के अन्तर उतने बडे नही है जितने आम तौर से समझे जाते है। लेकिन यह मान लेने पर भी कि अलग-अलग जातियो के अनुसार अलग-अलग मानसिक प्ररूप होते है, यह सवाल उठता है कि इन प्ररूपो को किस तरीके से समझा जाय? क्या एक निर्दिष्ट मानसिक प्ररूप के अस्तित्व को समझने के लिये जाति के सभी सदस्यों में व्याप्त रहनेवाली एक जातीय आत्मा को मानना ज़रूरी है? जो तथ्य ज्ञात हुए है उनको देखते हुए इस तरह की परिकल्पना (hypothesis) जरूरी नही लगती। उक्त बातको समझने के कम से कम दो और तरीके सम्भव है। हमारा मतलब यह हो सकता है कि जातियां एक दूसरी से भिन्न इस तथ्य के कारण होती है कि किसी एक जाति के **सभी सदस्यों** मे कुछ ऐसे मानसिक गुण होते है जो अन्य जातियों के सदस्यों में नही पाये जाते। इन मानसिक गुणों को आधुनिक जीवविज्ञान के अर्थ मे "विचलन" (fluctuations) मानना होगा, अर्थात् ये कुछ निश्चित सीमाओं के अन्दर एक मध्य-मान (mean) से थोड़ा ऊपर-नीचे रहते हैं; यह इसलिए मानना पड़ता है कि एक निर्दिष्ट जाति के सदस्यों मे

इन गुणों मे अत्यधिक व्यक्तिगत अन्तर होते है। अथवा हमारा मतलब यह हो सकता है कि सभी जातियो के अन्दर एक ही गुण होते है लेकिन उनका वितरण (distribution) इस तरह से बदलता है कि, (उदाहरण के लिये) उत्कृष्ट योग्यता के कुछ रूप, यद्यपि सभी जातियों मे मौजूद होते है, फिर भी किसी जाति मे अन्यो की अपेक्षा अधिक मात्रा में मौजूद रहते है, जिसका नतीजा यह होता है कि समष्टियो की हैसियत से जातिया परस्पर भिन्न होगी हालाकि अलग-अलग जातियो के व्यक्ति एक-दूसरे के बहुत कुछ समान हो सकते है। जातीय प्ररूपो के स्वरूप की इन दो सम्भव व्याख्याओ मे से एक भी यह स्वीकार नही करती कि किसी जाति के सभी सदस्यो मे मानसिक अभेद होता है। किसी भी मानसिक तत्व की व्याख्या के लिए जाति का सहारा लेना हर हालत में खतरनाक है। मानव-शास्त्रियो को विश्वसनीय शारीरिक लक्षण ढूढ़ने में जिस कठिनाई का अनुभव होता है उसे याद करते हुए हमे मानसिक लक्षणो का भरसक कम इस्तेमाल करना चाहिए, तब तक जब तक कि हमारे पास ऐसा लक्षण-विज्ञान (characterology) और निरीक्षण और अकन (record) की ऐसी विधि न हो जाय जो यथार्थता की दृष्टि मे कपालमिति (craniometry) के समान हो। इसके अलावा जहा हमको जातीय मानसिक विशेषताएं मिल भी जाती है वहा यह निर्णय करने का गम्भीर सवाल पैदा होता है कि ये विशेषताए कहा तक वशानुक्रम की उपज हैं और कहा तक परिवेशगत और ऐतिहासिक कारणो की उपज। प्रो० मैकइवर से सहमत होते हुए हम कह सकते हैं कि "जातीय आत्मा की खोज करते हुए हमारे जितने पथभ्रष्ट होने की आशका है उतनी और किसी भी बात में नही, अगर जातीय आत्मा से हमारा मतलब

उन मूल विशेषताओ के केन्द्र से हो जिनका प्रकट होना परिवेश पर निर्भर नही है। उसको पाने के लिये पहिले पृथक्करण (abstraction) की खतरे से पूर्ण क्रिया करनी पड़ती है, परिस्थितियों और आदमियो के मनो की निरन्तर होनेवाली अनन्त प्रतिक्रियाओ के द्वारा जो जीवन और चरित्र का जाल बुना गया है उसको सुलझाने की लगभग या बिल्कुल असम्भव क्रिया करनी पड़ती है"। *

हम राष्ट्र की एक कामचलाऊ परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं "राष्ट्र एक ऐसी वर्ग-चेतना से एक साथ बंधा हुआ सामाजिक समूह है, जो उस समूह के इतिहास में सुरक्षित अतीत के द्वारा उभारी हुई परम्पराओ से पैदा होती है और मातृभूमि के रूपमे एक निश्चित देशसे सम्बद्ध होती है।"† हमारे वर्तमान प्रसंग की दृष्टि से इस बात पर विशेष रूपसे ध्यान देने की जरूरत है कि यहा वास्तव मे दो अलग-अलग समस्याएं है और इन दोनों को दरअसल हल करना है। पहली राष्ट्रीयता की भावना के विकास की समस्या है, राष्ट्रीयता की भावना अर्थात् किसी समूह के सदस्यो के अन्दर की यह चेतना कि वे उम समूह के सदस्य है और उस समूह को केन्द्र बना कर उसके इर्द-गिद विभिन्न सवेगात्मक प्रवृत्तियो की एक बड़ी तादाद का इकट्ठा होना। दूसरी समस्या इस सवाल के रूपमे सामने आती है कि एक अलग राष्ट्रीय मन या चरित्र नाम की कोई चीज है भी या नही और कि इन शब्दो का ठीक-ठीक क्या मतलब है?

१. राष्ट्रीयता की भावना के बारे में पहिले बहुत कुछ लिखा जा

* "Community" पृष्ठ १४८।
† Sidney Herbert, "Nationality", पृष्ठ ३७।

चुका है और इसका वर्णन काफी साफ है। जातीय एकता निश्चय ही राष्ट्रीय चेतना का एक अनिवार्य हेतु नही है। हरेक महान् राष्ट्र मे अलग-अलग जाति के लोग पाये जाते है। उदाहरण के लिये, ब्रिटिश द्वीप-समूह मे योरोप की तीनो प्रमुख जातियों, भूमध्य-सागरीय, ऐल्पाइन (Alpine) और नॉर्डिक (Nordic) जातियो के तथा कई अन्य उपजातियो के प्रतिनिधि मौजूद है। अगर योरोप की आबादी का जातियो के आधार पर वर्गीकरण किया जाय तो जितने राष्ट्रीय समूहो को हम जानते है वे छिन्न-भिन्न हो जावेगे। इस प्रकार नॉर्मन (Normans) और यॉर्कशायर के आदमी (Yorkshiremen) एक समूह मे आयेगे और वेल्श (Welsh) और ब्रिटन (Britons) दूसरे समूह मे। फिर, सीधे देखने पर भी यह मालूम होगा कि जातीय एकता या रक्त की समानता आवश्यक नही है। टयूटोनिक (Teutonic) वातावरण मे पला हुआ स्लैव (Slav) बिल्कुल जर्मन बन जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी दिखाया जा सकता है कि भाषा की समानता राष्ट्रीयता की भावना के लिये न तो काफ़ी है और न आवश्यक, जैसा कि स्विट्जरलड, बेल्जियम और कनाडा के उदाहरण से स्पष्ट है; पहिले मे तीन भाषाए बोली जाती है और बाकी दो मे दो-दो। धर्म की एकता भी आवश्यक हेतु नही है। बहुत से दृष्टान्त ऐसे है जिनमे प्रबल देशभक्ति और राष्ट्रीय एकता के साथ ही धर्म और मौलिक विश्वासो की दृष्टि से महान् अन्तर पाये जाते है, इगलैंड और जर्मनी का यही हाल है। एक शासक के प्रति राज-भक्ति निस्सन्देह एक जोरदार तत्व है, लेकिन ऐसे भी उदाहरण है जिनमे राजनीतिक एकता से राष्ट्रीय एकता की वृद्धि नही हुई है, जैसे, आयर्लैंड, आस्ट्रिया-हंगरी और जार-कालीन रूस। फिर भी ये सभी

तत्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण सहायक कारण हो सकते है, बल्कि कई बार हो चुके है, हालाकि ये आवश्यक नही है। लेकिन एक तत्त्व सर्व-सम्मति से आधारभूत महत्त्व का है और वह है समान परम्पराए और रीति-रिवाज, समान अतीत की स्मृतिया और एक समान भविष्य की आकाक्षाए। रेनन (Renan) ने कहा है कि राष्ट्र एक आध्यात्मिक तत्व है जो आवश्यक रूप से दो चीजों से बना है : "एक है विरासत मे प्राप्त स्मृतियो की सम्पत्ति मे समान हिस्सेदारी ; दूसरी है एक साथ रहने की इच्छा, अदृश्य विरासत का अच्छा से अच्छा उपयोग जारी रखने का संकल्प।" राष्ट्रीयता की भावना का विकास कभी-कभी भौगोलिक पृथकता से भी जोर पकडता है, जैसा कि इंगलैंड में इस भावना के जल्दी विकसित हो जाने से प्रमाणित होता है, और इसका सबसे अधिक विकास तो तब होता है जब किसी विदेशी दुश्मन से सम्पर्क और सघर्ष होता है और अत्याचार का विरोध किया जाता है। इस प्रकार (थोड़े से उदाहरण दिये जाते है) अग्रेजों के प्रभाव के खिलाफ प्रतिक्रिया ने पन्द्रहवी शताब्दी मे फ्रास में राष्ट्रीयता की भावना को बुलन्द किया ; स्पेन के खिलाफ लडाई लड़कर डच एक राष्ट्र हो गया ; और आधुनिक काल में राष्ट्रीयता का अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में आगमन नेपोलियन की लड़ाइयों मे हुआ। राष्ट्रीयता, उस अर्थ मे जो यहा दिखाया गया है, अनिवार्य रूप से एक भावना है जिसका अनुभव किसी समूह के सब लोगों या अधिक से अधिक लोगों को भिन्न-भिन्न मात्राओं में होता है और इसमें कई सवेगात्मक प्रवृत्तियां मिली-जुली होती है जिसका केन्द्र या विषय वह सारा समूह और जिसके लिये उस समूह का अस्तित्व होता है वह अर्थात् उसकी परम्पराए, आदर्श और आकाक्षाएं होती है। इस भावना का प्राकृतिक इतिहास मालूम

किया जा सकता है, जो-जो तत्व इसको आगे बढ़ाते है उनकी गिनती की जा सकती है और जिन्दा रहने के सघर्ष मे इसका जो जैविक मूल्य है उमे तुरन्त मान लिया जा सकता है।

२. ऊपर जिन समस्याओ का उल्लेख हुआ है उनमे से दूसरी कही ज्यादा मुश्किल है। जैसा कि हम पहिले ही कर चुके है, एक रहस्यात्मक मामाजिक मन की धारणा को अस्वीकार कर देने पर किस अर्थ मे हम किसी मानसिक गुण को राष्ट्रीय कह सकते है और क्या **राष्ट्रीय चरित्र** नाम की कोई चीज है? मै समझता हू कि ये शब्द किसी सच्ची चीज के लिये इस्तेमाल होते है और वैज्ञानिक छान-बीन की उद्देश्य-पूर्ति के लिये इनको एक काफी निश्चित अर्थ दिया जा सकता है। "किसी राष्ट्र के" मानसिक गुण वे होते है जो उसके लोगों में दूर-दूर तक फैले होते हैं; ये अनुभूति, सकल्प, विचार और कार्य के वे रूप है जिनका उन लोगों के व्यवहार को ढालने मे महत्त्व होता है; ये उन लोगो की वे विशेषताएं है जिनसे हम उनको दूसरे समूहो के लोगों से अलग पहिचान सकते है। अगर हम चाहे तो अपनी जिम्मेदारी पर आत्मा या मन शब्द का इस्तेमाल किसी राष्ट्र के सदस्यों के इन व्यापक गुणो और विशेषताओं की समष्टि के लिये कर सकते है, लेकिन हमे सतर्क होकर इस समष्टि को एक व्यक्ति का रूप देने की गलती से और जहा अन्य चीजे काम नही देती है वहा अपना अज्ञान छिपाने के लिये इसको व्याख्या के साधन रूप मे इस्तेमाल करने से बचना होगा। हाल में लोक-मनोविज्ञान में कई नये सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये है, लेकिन उनका सच्चा वैज्ञानिक मूल्य निर्धारित करना बहुत ही मुश्किल है। लेखको ने अपने से भिन्न राष्ट्र के लोगों के मनोविज्ञान के जो-जो वर्णन दिये है उनकी तुलना करना एक मनोरजक काम है, हालाकि फायदा इससे कोई खास

नही है। मेरा विचार है कि इससे एक बात यह मालूम होगी कि अधिकतर मामलो मे जो परिणाम निकलेगे वे एक-दूसरे का खण्डन करनेवाले होगे। खास तौर से यह बात बड़ी मनोरजक है कि करीब-क़रीब सभी लेखक यह दावा करते है कि उनका अपना राष्ट्र जटिलता और विविधता की दृष्टि से सबसे सम्पन्न है। राष्ट्रो का एक वाकई वैज्ञानिक मनोविज्ञान केवल तभी सम्भव है जब हमारे पास चरित्र का एक विकसित विज्ञान हो और निरीक्षण और अंकन की विश्वसनीय पद्धति का विकास हो जाय। इस समय तो विभेदमूलक लोक-मनोविज्ञान (differential folk psychology) मे केवल थोड़े से लोगो के व्यवहार के ऊपरी निरीक्षण पर या चुने हुए लेखको की गवाही पर आधारित आसान सामान्यीकरणो (generalizations) की भरमार है। इसके बावजूद राष्ट्रीय विशेषताओ के अस्तित्व से इनकार करना एक बड़ी भूल होगी। जैसा कि स्टीनमेत्स (Steinmetz) ने कहा है :* "अगर हम वशानुक्रम-प्राप्त जातीय प्रवृत्तियो और गुणो को मानते है तो हमको यह मानने के लिये मजबूर होना पड़ेगा कि जिन तरीको से अलग-अलग राष्ट्रो मे अलग-अलग जातियो की मिलावट होती है उनकी असमानता से असमान राष्ट्रीय विशेषताए पैदा होनी चाहिए और कि ये वशानुक्रम से सक्रमित हो सकेगी। इसके अलावा ऐसी आबादियो मे शीघ्र ही महान् परिवर्तन होने चाहिए, क्योकि इसकी सम्भावना बहुत ही कम है कि ऐतिहासिक घटनाए अलग-अलग

* "Der erbliche Rassen-und Volkscharacter", "Vierteljahreschrift Wissenseh. Philos. und Soziologie", 1902.

राष्ट्रो मे एक ही विशेषताओं को हटा देंगी या बढ़ा देगी। बहुत ही थोडे समय मे, जातियों की एक राष्ट्र मे भिन्न मिलावट के फलस्वरूप उस राष्ट्र मे बिल्कुल भिन्न मानसिक और शारीरिक विशेषताए दिखाई देने लगेगी। इसके बावजूद कि उनका अस्तित्व-काल बहुत छोटा है और खास तौर से इसके कि उनके अन्दर एक ही जातीय तत्व मौजूद है, इन राष्ट्रो मे बिल्कुल भिन्न वंशानुक्रमिक विशेषताए आ जाती है। और ऐसा इसलिए होता है कि दो राष्ट्रों मे सामाजिक चुनाव (social selection) विशेषताओं और गुणो के अलग-अलग समूहों पर जिस तरीके से काम करता है वह भिन्न होता है। जाति के एक होने पर भी निवास-स्थान और अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश की भिन्नता एक अलग ही इतिहास का कारण बनती है और इस अलग इतिहास की वजह से सामाजिक चुनाव भिन्न हो जाता है जिसके फलस्वरूप सक्रमण की दिशा भिन्न हो जाती है और राष्ट्रीय चरित्र भी भिन्न हो जाता है।" इस तरह का राष्ट्रीय चरित्र किन गुणो से बनता है यह निर्धारित करना, जैसा कि हम देख चुके है, बहुत ही मुश्किल है। इस प्रसग मे दुबारा स्टीनमेत्स (Steinmetz) के कथनु को उद्धृत करना ठीक होगा. "हमे यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि विशिष्ट गुण, जैसे वैराग्य, क्रूरता इत्यादि या उनकी ओर झुकाव वशानुक्रम से संक्रमित होते है। इस तरह के सभी गुण अत्यधिक सरल और सामान्य स्वभाववाली विभिन्न विशेपताओ के मेल-जोल की उपज होते है, और इन गुणों की विभिन्न अनुपातो मे और तीव्रता की विभिन्न मात्राओं में मिलावट होने से चरित्र के वे विभिन्न रूप, जैसे कि वे हमें दिखाई देते है, तथा उनकी गौण विशेषताए प्राप्त होती है। एक निर्दिष्ट चरित्र के मूल तत्वों में

निश्चय ही किसी ऐसी चीज का अस्तित्व शामिल होता है जो अन्य बातों मे कोई परिवर्तन न होने पर उस चरित्र को रखनेवाले मे वैराग्य का गुण पैदा करेगा। इस चीज को हम विचारों या संवेदनाओ की एक विशेषता के या उनके होने की एक विशिष्ट मात्रा की तेजी के रूप में देख सकते है अथवा किसी ज्ञानेन्द्रिय की कम या अधिक प्रतिक्रियाशीलता के रूप मे अथवा किसी अन्य रूप मे। यह चरित्र के विज्ञान का काम है कि वह हरेक गौण गुण के मूल और प्रारम्भिक तत्वो की खोज करे। चरित्र के चुनाव को सम्भव बनाने के लिये केवल इन मूल तत्वो का ही वशानुक्रमिक होना जरूरी है। अगर कोई इससे इनकार करता है तो उसको यह मानना पड़ेगा कि आदिम युग के मानव मे लेकर पश्चिमी योरोप के मनुष्य तक सब मे सभी मानसिक प्रवृत्तिया बिल्कुल एक होती है।" जातियो की मिलावट, सामाजिक चुनाव और वशानुक्रम, इन कारणो के अलावा कुछ और भी कारण काम करते है, जैसे, किसी राष्ट्र की ऐतिहासिक घटनाए, उसकी परम्पराए और सस्थाए, उसकी शासन और शिक्षा की प्रणालिया, समूह का दबाव और निर्देश, और इन सबके मेल से एक ऐसे राष्ट्रीय प्ररूप का पैदा होना माना जा सकता है जो कि अपेक्षाकृत स्थायी हो और वशानुक्रम से सक्रमित हो सके। लेकिन यहा हमारा मुकाबला जन्मजात और अर्जित लक्षणो के, प्रकृति और परिस्थितियों से प्राप्त विशेषताओं के, सम्बन्ध की मुश्किल समस्या से तथा अर्जित विशेषताओ के संक्रमण की समस्या से होता है। उदाहरण के लिये, यह सोचा जा सकता है कि सस्थाओं और ऐतिहासिक घटनाओं के प्रभाव प्राय: स्थायी नही होते, और अगर राष्ट्रीय प्ररूपों का वाकई अस्तित्व है तो उनका अन्तिम कारण आदिकालीन मौलिक अन्तर ही हो सकते है। यह एक बहुत बड़ी

समस्या है जिसका विवेचन यहां सम्भव नही है। फिर भी स्टर्न (Stern) के शब्दों मे* शायद यह कहा जा सकता है कि "जन्मजात और अर्जित गुणो मे नितान्त पृथकता वास्तव मे असम्भव है। जो चीज जन्मजात होती है वह कोई विशुद्ध गुण कभी नही होता बल्कि किसी गुण की ओर अनिश्चित झुकाव मात्र होता है। इसी तरह जो चीज अर्जित होती है वह कोई विशुद्ध गुण नही होता ; क्योंकि बाहरी कारणों के प्रबलतम प्रभाव के फलस्वरूप जो गुण अपनी निश्चित शक्ल प्राप्त कर चुका है उसका भी आधार कोई झुकाव होना चाहिए जिस पर बाहरी प्रभाव क्रिया कर सके।"

जो कुछ भी हो, राष्ट्रीय चरित्र की धारणा के लिये किसी एक सामाजिक मन को मानने की जरूरत नही है। राष्ट्रीय चरित्र अवश्य ही इस तथ्य की ओर इशारा करता है कि एक व्यक्ति और उसके राष्ट्र के बीच बहुत ही घनिष्ठ और अंग का शरीर से सम्बन्ध जैसा सम्बन्ध होता है, कि व्यक्ति के मानसिक गुण अन्तर्वस्तु और रूप दोनो की दृष्टि से बहुत-कुछ उसके राष्ट्र और जैविक तथा सामाजिक विरासत के प्रभाव की उपज होते है। लेकिन यह सम्बन्ध अन्योन्याश्रित होता है। "समूह अपनी इकाइयो के ऊपर जो नियत्रण करता है वह हमेशा उनकी चेष्टाओ, भावनाओं और विचारो को सामाजिक जरूरतो के अनुसार ढालने की क्षमता रखता है; और ये चेष्टाए, भावनाए और विचार बदलती हुई परिस्थितियो के कारण बदल कर समाज को अपने अनुसार ढालने की क्षमता रखते है।"*

---

* "Differentielle Psychologie", पृ० २७, ६९।
† Spencer, "Principles of Sociology" I 10.

यही बात ऊपर उल्लिखित प्रारम्भिक गुणों पर भी लागू होती है। वंशानुक्रम से प्राप्त प्रवृत्तियां एक ऐसा रूप ग्रहण कर लेती हैं जो सामाजिक अनुभव और परिवेश के प्रभाव के द्वारा निर्धारित होता है। संस्थाएं और सामान्य परम्पराएं व्यक्तियों के व्यवहार को ढालती हैं और जिस तरीके से जन्मजात प्रवृत्तिया रूप ग्रहण करेंगी उसको निर्धारित करती हैं। लेकिन दूसरी ओर स्वयं परम्परा और संस्थाएं सामाजिक और भौतिक परिवेश की अवस्थाओं से उत्तेजना प्राप्त करके सक्रिय बनी हुई जन्मजात प्रवृत्तियों की उपज होती हैं तथा जिन बदलती हुई परिस्थितियों में व्यक्ति अपने आपको पाते है उनके द्वारा बराबर परिवर्तित होती रहती हैं। इस प्रकार राष्ट्रीय चरित्र कई शक्तियों के सहयोग की जटिल उपज होता है। परम्परा, सामाजिक निर्देश, जातियों की मिलावट, जलवायु की स्थितिया, ये सब सहायक कारण है और इनके प्रभावों को एक-दूसरे से अलग करके बताना शायद असम्भव है। लेकिन इनका जो संयुक्त प्रभाव पैदा होता है वह कोई रहस्यमय चीज नही है जो किसी राष्ट्र के व्यक्तियों के ऊपर मंडराती फिरे, बल्कि वह कुछ ऐसी मौलिक मानसिक विशेषताओं का समूह है जो किसी राष्ट्र के लोगों में व्यापक रूप से पाई जाती है, दूसरे राष्ट्र के लोगों में नहीं पाई जातीं, जो उन लोगों के व्यवहार को प्रभावित करती है तथा जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन लोगों मे थोड़ी या बहुत अविच्छिन्नता के साथ प्रकट होती रहती है। सामाजिक मनोविज्ञान में राष्ट्रीय आत्मा की धारणा का इसके अलावा दूसरा अर्थ लगाने की कोई ज़रूरत नही है, और न इसको व्याख्या का साधन बनाने का ही कोई मूल्य है।

७

परम्परा

परम्परा (tradition) से मतलब है उन सभी विचारों, आदनों और रीति-रिवाजों का योग जो लोगों के एक समुदाय में फैले रहते हैं और एक पीढ़ी से दूसरी में पहुचते रहते है। इसको सामाजिक विरासत कहा गया है और यह कोई अनुचित नही है, क्योंकि इसके काम करने का तरीका जैविक वंशानुक्रम (biological heredity) के तरीके से बहुत मिलता-जुलता है। जैविक वशानुक्रम की तरह यह भी कार्य को ढालती है और व्यवहार को निर्धारित करती है, उसकी तरह इसका भी स्वभाव बगैर टूटे जारी रहने का और भूतकाल की उपलब्धियों (achievements) को आगे आनेवाले युगो मे ले जाने का है। हम देख चुके है कि परम्परा राष्ट्रीयता की भावना के विकास मे और राष्ट्रीय प्ररूपों को ढालने मे भी एक आवश्यक हेतु है। शायद इसके महत्त्व को एक लम्बे परम्परागत अतीतवाले लोगो के जीवन का उन लोगों से वैषम्य दिखाकर दर्शाया जा सकता है जिनमे अभी तक किसी स्थिर परम्परा का विकास नही हुआ है। रूसी दार्शनिक क्वादाएव (Coadajew) का विचार है कि रूसी लोगों मे परम्परा नाम की चीज का अभाव है और कि यह अभाव उनके राष्ट्रीय चरित्र में एक

सचमुच की कमजोरी है और उनकी अपेक्षाकृत मानसिक अस्थिरता का और शारीरिक अस्थिरता का भी कारण है। नीचे लिखे अवतरण से जिसको मैंने डा० ईलियाज हुरविजा (Elias Hurwicz) के ग्रन्थ "Die Seelen der Völker" मे दिये हुए एक उद्धरण से अनुवादित किया है, यह बात साफ हो जाती है : "अगर अतीत घटनाओं की स्मृतिया वर्तमान को अतीत से नही जोड़ती, तो मानव जीवन क्या है (सिसिरो) ? एक हम है कि अपने मा-बाप का नाम न जाननेवाले अवैध बच्चों की तरह कोई ऐसी चीज हमारे पास नहीं है जो हमको अपने पूर्वजों से जोड़े, अतीत की कोई भी शिक्षा हमारे दिमाग मे मौजूद नही है। हममे से हरेक अपने सम्बन्धों के टूटे हुए तागों को नये सिरे से जोडने के लिये मजबूर है। जो बात और लोगों में आदत और सहज-प्रवृत्ति बन गई है उसको ठोक-ठोक कर हमारे दिमाग में घुसाना पड़ता है। हमारी याददाश्त कल से पीछे नही जाती· जैसे कि मानो हम अपने-आपको भी नही पहिचानते। हम इतने विचित्र तरीके से आगे बढ रहे है कि हरेक अगले कदम के साथ पिछला क्षण सदा के लिये लुप्त होता जा रहा है। यह उन सस्कृति का स्वाभाविक परिणाम है जो उधार लिये हुए तत्वो और अनुकरण पर आधारित है। हम अन्दर से विकसित होने के रास्ते पर नही है, हम स्वाभाविक तरीके मे प्रगति नहीं कर रहे हैं; हरेक नया विचार पुराने को भगाकर उसके निशान तक मिटा रहा है, क्योंकि वह उनसे उत्पन्न नही है बल्कि कही बाहर से आता है, ईश्वर जाने कहा से। इस वजह से कि हमे बने-बनाये विचार प्राप्त हो रहे है, हमारे मस्तिष्क मे वे स्थायी रास्ते नहीं बन पा रहे है जिनसे क्रमिक विकास सम्भव होता है। हम बढ़ तो रहे है, लेकिन प्रौढ़ नही हो रहे है, हम आगे चल रहे है किन्तु एक दिशाशून्य रास्ते पर। हम उन बच्चो की

तरह हैं जिनको अपने लिये स्वयं सोचना नहीं सिखाया गया है; उनके बालिग़ होने के समय यह प्रकट होता है कि उनके पास कोई अपनी चीज नही है, कि जो कुछ वे जानते है वह उनके अस्तित्व के ऊपर-ऊपर है, कि उनकी आत्मा उनसे बाहर है। यह हमारी हालत है। यह आसानी से देखा जा सकता है कि किसी जन-समुदाय की यह विचित्र स्थिति— जो समुदाय कि अपने विचारों को एक धीरे-धीरे विकसित होनेवाली शृंखला में नही बांध सका है और जिसने मानवीय आत्मा के सामान्य विकास में केवल अन्धे, ऊपरी और प्रायः असफल अनुकरण के द्वारा भाग लिया है—अपने प्रत्येक सदस्य की मनोवृत्ति पर अवश्य ही एक जबर्दस्त असर डालती है। फलस्वरूप आप देखेंगे कि हम सबों में विश्वास, विधि और तर्क की कमी है। जब आदमी को स्वयं को भूत और भविष्य से जोड़ने का उपाय नही मिलता, तब चीज़ों से उसकी पकड़ का छूटना स्वाभाविक ही है। उसकी सारी स्थिरता और विश्वास जाता रहता है। अविच्छिन्नता की अनुभूति से पथ-प्रदर्शन न पाकर वह दुनिया मे खो जाता है। ऐसे 'छिन्न मूल' लोग किसी भी मुल्क में पाये जा सकते है; हमारे बीच में तो उनका पाया जाना एक साधारण बात है। इसका भावना के उस हल्केपन से कोई ताल्लुक़ नही है जिससे कभी फ़्रांसीसियों को डांटा गया था और जो मूल में उस शीघ्र समायोजना की योग्यता के अलावा कुछ नहीं था जिसका चौड़ाई और गहराई से विरोध नहीं है और जिससे मानवों के संसर्ग को आकर्षण और सुन्दरता प्राप्त हुई; बल्कि यह जीवन की वह लापरवाही है जिसमें अनुभव और दूरदर्शिता का अभाव होता है, जो अपने समुदाय से अलग पड़े हुए व्यक्ति के थोड़े समय के अस्तित्व के अलावा किसी अन्य चीज़ का ख़्याल नहीं करती। हमारे मनों में कोई भी समानता नही है; वहां हरेक चीज़ अकेली, अस्थिर

और अधूरी है। वास्तव में हम अपनी नज़र में कोई धुंधली, ठंढी और अनिश्चित चीज पाते हैं, जो हमें उन लोगों के शारीरिक आकार-प्रकार की याद दिलाती है जो समाज-रूपी सीढ़ी के सबसे निचले छोर पर है।" कुछ हाल में इज्गोजेव (Isgojew) ने यह दिखा दिया है कि परम्परा के इस अपेक्षाकृत अभाव का रूस के युवकों पर क्या असर हुआ है, और यह सम्भव है कि रूस की मौजूदा हालत का एक प्रमुख कारण इसी में पाया जाय।

जिस तरीके से बौद्धिक परम्परा किताबों, शिक्षा-प्रणालियों इत्यादि के द्वारा काम करती है, वह काफ़ी परिचित है, और यहां उसका वर्णन नही किया जायगा। हम यहा खास तौर से प्रथा या रिवाज़ (custom) तक अपना ध्यान सीमित रखेंगे और संक्षेप में इसका कानून और नैतिकता से सम्बन्ध बतायेंगे।

वुन्ट ने प्रथा या रिवाज की परिभाषा देते हुए कहा है कि यह एक तरह का ऐच्छिक कार्य है जो किसी राष्ट्र या क़बीले (tribe) मे विकसित हुआ हो। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रिवाज कुछ बातो मे आदत की तरह होता है; अर्थात् रिवाज एक ऐसी आदत है जिसका अनुसरण न केवल एक व्यक्ति करता है, बल्कि किसी सम्प्रदाय के अधिक से अधिक लोग करते है। फिर भी रिवाज आदत से अभिन्न बिल्कुल नही है। रिवाज में एक नियम या आदर्श (norm) होता है और उसके अन्दर बाध्यता होती है। नियम शब्द से रिवाज के दो महत्त्वपूर्ण लक्षणों को प्रकट करना अभिप्रेत है: (१) यह कि रिवाज कार्य या व्यवहार की एक व्यापक आदत मात्र नही है, बल्कि उसमें कार्य या व्यवहार की भलाई-बुराई का निर्णय भी छिपा रहता है; (२) और यह कि यह निर्णय सामान्य और निर्वैयक्तिक (impersonal) होता है।

रिवाज का बाध्यतामूलक (obligatory) स्वभाव उसे प्रचलन (usage) से अलग करता है। प्रचलन मे वे कार्य शामिल रहते है जिनको करने की किसी सम्प्रदाय के सदस्यो का आदत होती है, लेकिन जिनका स्वरूप आदर्शमूलक (normative) नही होता अर्थात् जिनको करने की नैतिक बाध्यता नही होती। इस प्रकार रिवाज अपने सामान्य और बाध्यतामूलक स्वभाव के कारण आदत से भिन्न होता है और खास तौर से बादवाले स्वभाव के कारण प्रचलन से। दूसरे शब्दो मे, रिवाज नैतिक **स्वीकृति-प्राप्त** प्रचलन होता है।

रिवाज का फैशन से भी अन्तर जान लेना चाहिए। कभी-कभी यह कहा जाता है कि फैशन क्रिया की तात्कालिक समानता है, यानी इसके प्रभाव से हरेक आदमी वही करता है जो हर दूसरा आदमी कर रहा है, और इस तरह यह अनुकरण पर आधारित होता है; जबकि रिवाज क्रिया की क्रमिक समानता है; दूसरे शब्दो मे, रिवाज के अनुसार काम करते हुए हर आदमी वही करता है जो हमेशा से किया जाता रहा है, और यह इस तरह अनिवार्य रूप से आदत पर आधारित होता है। लेकिन दोनों में इससे ज्यादे महत्त्वपूर्ण अन्तर है। सबसे पहिले, रिवाज का ताल्लुक समाज की हमेशा बनी रहनेवाली मौलिक आवश्यकताओं से मालूम पड़ता है, जबकि फ़ैशन का असर जीवन के कम मार्मिक और कम सामान्य क्षेत्रों में दिखाई देता है। फैशन अनिवार्य रूप से चलायमान और परिवर्तनशील होता है। वास्तव मे यह बार-बार होनेवाले परिवर्तनो की एक शृंखला होता है, और प्राय. अनुकरण और नवीनता इसकी विशेषताएं होती हैं। इसके विपरीत रिवाज अनिवार्य रूप से टिकाऊ और बग़ैर टूटे चलनेवाला होता है, और उसमें परिवर्तन केवल धीमा ही होता है। इसमें शक़ नहीं है कि कुछ फ़ैशन ऐसे भी होते है जो

बदलते नही है, लेकिन ऐसा होने पर वास्तव मे वे फ़ैशन नही रहते, बल्कि रिवाज हो जाते है; दूसरे शब्दों मे उनको अतीत और वर्तमान दोनों का ही सम्मान प्राप्त होता है। दूसरी बात यह है कि रिवाज और फैशन के बीच प्रेरक (motive) का बिल्कुल वैषम्य होता है। दोनों में से किसी को भी खाली क्रिया की समरूपता कहना काफी नही है, क्योंकि बहुत सी समरूप क्रियाए ऐसी होती है जो सामान्य तौर से सहज-प्रवृत्ति या वशानुक्रम-प्राप्त गठन पर आधारित होती है। लेकिन रिवाज का अनुसरण इसलिए होता है कि भूतकाल में प्रायः उसका अनुसरण हुआ है, जबकि फ़ैशन का इसलिए कि वर्तमान में उसका अनुसरण हो रहा है। इसके अलावा फ़ैशन एक तरह से नवीनता का द्योतक होता है और इसका अनिवार्य आधार अपने को दूसरों से पृथक् करने की उत्कट इच्छा मे पाया जाता है। इसके विपरीत रिवाज का जोर बहुत-कुछ इस तथ्य के कारण होता है कि इसके जरिये समाज ने नवीनता के ख़तरों से अपना बचाव कर लिया है। इस तरह रिवाज का अनुकरण और फैशन का अनुकरण दो भिन्न दिशाओं मे काम करते है। पहिला पुराने को स्थिर और जीवित रखता है और दूसरा नवीनता को लाता है और अनुकरण के द्वारा उसे फैलाता है।

रिवाज का मूल. वुन्ट ने बताया है कि "जहां तक हम जानते है, रिवाज के विकास का रास्ता केवल एक होता है और वह है तुल्य परिस्थितियों वाले पहिले के रिवाज से। प्रचलन, फ़ैशन, और आदत, दूसरी ओर, नये रूपों और बहुत पहिले नष्ट अतीत के अवशेषों के मिले-जुले रूप होते हैं। रिवाज में कितना अतीत से आया है और कितना नई रचना है, यह पहिचानना काफ़ी मुश्किल है, लेकिन ऐसा रिवाज जो कि बिल्कुल नया हो सम्भव नही है।" यह इस अर्थ मे सही

है कि रिवाज एक सम्मिलित सृष्टि होता है, हजारों परस्पर-क्रियाओं की उपज होता है। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इसके पीछे किसी महामनस् (supermind) या समाज के सामान्य आत्मा का अस्तित्व होता है। अन्त में जाकर रिवाज किसी व्यक्तिगत आदत के अन्य व्यक्तिगत आदतो से मिलने से पैदा होता है, उनमे से प्रत्येक का दूसरे से प्रभावित होने और दूसरे को प्रभावित करते रहने का फल है जो कि अन्त में एक संयुक्त उपज के रूप मे स्थिर हो जाता है। समाज आखिरकार है क्या ? जैसा कि प्रो० हॉबहाउस* ने कहा है, स्वयं हमलोग और हमसे पहिले लोग जो हमसे बहुत ज्यादा भिन्न नहीं हैं, समाज को बनाते है, तथा भूतकाल में रिवाज का विकास उसी तरह से हुआ होगा जिस तरह से अब होता है, अब यह होता है कि किसी व्यक्तिगत केन्द्र से मत या निर्णय बाहर निकलते हैं, दूसरों के मतों से उनका सम्पर्क होता है वे उनसे टकराते है या उनको पुष्ट करते है, उनको परिवर्तित करते या उनसे परिवर्तित होते है, और अन्त में विचारों और प्रभावों की इस टक्कर से एक कम या ज्यादा स्थायी मत या निर्णय का उदय होता है जो दूसरे लोगों के विचारो को ढालने के लिये एक कारण का काम करने लगता है। हमेशा ही व्यक्तिगत केन्द्र होते हैं जो एक सामाजिक वातावरण में रहते और विकास करते हैं, उस वातावरण को बदलते और उससे स्वयं बदले जाते है। समाज में जिन विचारों और कार्य या व्यवहार के सामान्य नियमों का उदय होता है, वे परस्पर सम्बन्धित व्यक्तिगत मनों के कारण होते है और उनके विकास मे जो सामाजिक प्रक्रिया शामिल रहती है उसके स्वरूप

---

* "Morals in Evolution", पृ० १३।

के बारे में किसी रहस्य का होना जरूरी नही है। आदिम युग के समाज में भी वही तत्व काम करते रहे होंगे, अलावा इसके कि अतीत की प्रबल शक्ति के सामने नये विचारों के टिक सकने की बहुत कम सम्भावना रही होगी और अनुकरण या वाद-विवाद के द्वारा उन विचारों का फैलना ज्यादा मुश्किल रहा होगा, इसलिए कि तब आपस में सम्पर्क करने के साधन बहुत कम थे।

वुन्ट का विचार है कि सभी रिवाज मूल में पूजा के रूप थे। इसके पक्ष में कोई सन्तोषजनक प्रमाण नही है; लेकिन इसमे कोई शक नही है कि रिवाज ईश्वर-सम्मत या दैवी आदेश माना जाता था।

रिवाज का कार्य. प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त के अनुसार यह माना जाता है कि सभी सजीव चीजों में जो अनायास और निरुद्देश्य गतियां दिखाई देती हैं उनमें से प्रतिक्षेप और सहज-क्रियाओं का चुनाव हुआ है और ये पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही है, इसलिए कि जीवन-सघर्ष में ये सहायक सिद्ध हुई हैं। खास तौर से सहज-क्रियाओ का महत्त्व इस तथ्य में है कि उनके द्वारा कोई प्राणी गतियो की एक जटिल शृंखला में से बगैर हर गति के ऊपर सोच-विचार किये या बगैर सारी शृंखला के वास्तविक उद्देश्य को समझे गुजर सकता है। इस तरह से वंशानुक्रम से प्राप्त गठन किसी जीवधारी को इस काबिल बना देती है कि वह प्रभावपूर्ण तरीक़े से और अपने व्यक्तिगत अनुभव पर निर्भर रहे बिना किसी जटिल परिस्थिति का मुक़ाबला कर सके, और इस प्रकार यह जाति के व्यक्ति के ऊपर क्रिया करने का एक तरीका है। दूसरे जीवधारियों की तरह आदमी को भी व्यवहार के जन्मजात तरीक़े प्राप्त है, हालाकि आदमी के अन्दर सहज-क्रियाएं अकेले जीवित नही रहतीं, बल्कि एक-दूसरी से घुल-मिल जाती है और अनुभव से कम से कम

अपने प्रकट होने के तरीके मे बहुत बदल जाती है। इसके अलावा आदमी मे जाति व्यक्ति के ऊपर परम्परा या रिवाज के द्वारा भी क्रिया करती है, अर्थात् कार्य के उन तरीकों के सक्रमण के द्वारा जिन्हे पहिले की पीढियो के अनुभव ने उपयोगी सिद्ध कर दिया है। इस तरह से इसका असर यह होता है कि नई पीढिया प्रयत्न और भूल की महगी विधि से उस चीज को दुबारा सीखने के कष्ट से बच जाती है जिसे पुरानी पीढिया पहिले ही सीख चुकी है। रिवाज को सामाजिक वशानुक्रम कहकर पुकारने मे उसके इसी कार्य की ओर सकेत किया जाता है। व्यवहार के सहज और वशानुक्रम-प्राप्त तरीको से इसका सादृश्य इस बात में है कि रिवाज व्यवहार के जिन तरीकों को अपनाने के लिये कहता है वे (१) जाति के कारण होते है, (२) प्राय: सोच-विचार के बगैर किये जा सकते या किये जाते है, और (३) आम तौर से समाज के सदस्यो के लिये उपयोगी है या शुरू में उपयोगी रहे है। तीसरी बात के बारे मे यह बात याद रखनी चाहिए कि सहज-क्रियाए भी समय-समय पर हानिकारक सिद्ध होती है और निस्सन्देह बहुत से रिवाज भी अपनी उपयोगिता खो देते और घिस जाते है और इस तरह समाज के लिये सचमुच एक खतरा बन जाते है। लेकिन शुरू में निश्चय ही वे इसलिए जम गये होगे कि उनकी उपयोगिता थी या जीवन मे उनका मूल्य था।

रिवाज की शक्ति. रिवाज के महान् प्रभाव के ऊपर साहित्य मे बार-बार जोर दिया गया है। इस प्रकार शेक्सपियर ने "tyrant custom" यानी क्रूर रिवाज की बात कही है, मॉन्टेन (Montaigne) ने रिवाज को "violent and treacherous schoolmistress" यानी गुस्सेबाज और दगाबाज स्कूल-मास्टरनी कहा है, बेकन (Bacon) के अनुसार यह "the principal magistrate of

man's life" यानी आदमी के जीवन की प्रधान न्यायाधीश है, और लॉक (Locke) इसकी "greater power than nature" यानी प्रकृति से भी बड़ी शक्ति मानता है।* निश्चय ही आदिम युग के समाजो मे रिवाज जीवन के सभी क्षेत्रो मे व्याप्त रहता है और व्यवहार की सूक्ष्म से सूक्ष्म बातो में भी उसका दखल होता है, और सभ्य समाजो मे रिवाज और फैशन का प्रभाव जितना साधारणतया समझा जाता है उससे अधिक होता है। अन्त मे रिवाज की शक्ति कार्य की समरूपता की जीवन के लिये उपयोगिता के कारण होती है। सामाजिक विकास की शुरू की हालतो मे, जैसा कि बेगहॉट कहता है, इस बात का बहुत ही ज्यादा महत्त्व रहा होगा कि कुछ सामान्य नियम ऐसे बनाये जाय जो लोगो को एक सूत्र मे बाधे, उनको एक ही चीज करने के लिये मजबूर करे, उनको यह बतावे कि वे एक-दूसरे से क्या आशा करे। इसमे भी कोई शक नही है कि रिवाज को जो कुछ-कुछ लोकोत्तर प्रभुत्व प्राप्त था और उसको तोड़ने या उसकी उपेक्षा करने के लिये जो कठोर दड दिया जाता था, वह बहुत-कुछ इस कारण कि लोग सहज ही रिवाज के महत्त्व को महसूस करते है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रिवाज की शक्ति प्राय: आदत और निर्देश की शक्ति मानी जाती है। लेकिन इस तरह की सामान्य उक्तिया बात को अधिक नही समझा पाती। निर्देश की शक्ति कुछ सवेगात्मक और सहज प्रवृत्तियों के जागने के कारण होती है जिससे सब विरोधी विचार निरुद्ध हो जाते है और निर्देश विचार ध्यान के केन्द्र मे जम जाता है तथा उसको क्रियात्मक शक्ति प्राप्त हो जाती है। इसलिए, जैसा कि हार्ट (Hart) ने सिद्ध

* देखिए Ross, "Social Control", पृ० १८४।

कर दिया है, प्रत्येक दृष्टान्त मे जो विशेष प्रवृत्तिया जाग्रत होती हैं उनका उल्लेख करना जरूरी है। सम्भवतया रिवाज की निर्देशात्मक शक्ति यूथ-प्रवृत्ति के कारण होती है। ट्रॉटर ने यह दिखा दिया कि जो भी बात हमारे पास यूथ से आती है उसका अत्यधिक आदर होता है। परिवर्तन को नापसन्द करने में एक कारण अज्ञात का भय भी मालूम पड़ता है, जो कि परिचित या पुरानी चीज़ के प्रेम का ही दूसरा पहलू है। आदिम काल के मनष्य की एक ज़बर्दस्त विशेषता निश्चय ही उसका अज्ञात का भय है। वह हमेशा डरता रहता है कि कही उसके किसी काम से देवताओं का कोप उस पर न पड़ जाय। जो चीज एक समान होती है और स्थिर होती है वह समझ ली जाती है और उसका होना पहिले से मालूम हो जाता है। नई और बदलनेवाली चीज़ का कोई भरोसा नहीं रहता, पहिले से उसका होना नही मालूम होता, और इसलिए वह आतंक से भरपूर होती है। जो रिवाज की बात है, जो हमेशा किया जाता रहा है उसमें सुरक्षा होती है। इसीलिए रिवाज के प्रति श्रद्धा होती है और नवीनता से भय होता है। इसीलिए आदिम युग का आदमी अपने रिवाजों पर पवित्रता का रग चढ़ाता है और उनको तोड़नेवालों को कठोर दंड देता है। जब रिवाज को मनवाने के लिये उसको ईश्वरीय बनाने का कोई फल नहीं होता तब लोग दूसरे भय दिखाते है और पुरानी और परिचित चीज को उचित सिद्ध करने के लिए मिथ्या वैज्ञानिक दलीलें ईजाद करते है। बेगहॉट कहता है, "आदमी की सबसे बड़ी पीड़ाओं में से एक है नये विचार से मिलनेवाली पीड़ा। जैसा कि साधारण लोग कहते हैं, यह बहुत ही अस्त-व्यस्त करनेवाली होती है, यह आपको यह सोचने के लिये मजबूर करती है कि आपके प्रिय विचार गलत भी हो सकते है, आपके दृढ़ विश्वास भ्रम हो

सकते हैं।" अगर कभी परिवर्तन किये भी जाते है तो प्राय: उनका सफल होना केवल तभी सम्भव होता है जब वे पुराने रिवाजों के वेश मे आते हैं। मेन (Maine) ने आदिम युग के कानून में कई ऐसी कल्पित बातों की ओर ध्यान खींचा है, और इसके कई आधुनिक दृष्टान्त भी दिये जा सकते है। इसी प्रवृत्ति का एक दृष्टान्त इस तथ्य में दिखायी देता है कि बहुत से रिवाज अपने मूल कारणों के समाप्त हो जाने के बाद भी बहुत अर्से तक बने रहते है, कई मामलों में उसके बाद उनका औचित्य दिखाने के लिए विस्तृत युक्तयाभासों का आविष्कार किया जाता है और तब उनके पक्ष में जो तर्क दिये जाते है उनका उनके मूल उद्देश्य से थोडा या कुछ भी ताल्लुक नही होता। ऐन्ड्रयू लैंग (Andrew Lang) ने इस बात की ओर इशारा किया है कि मुख्य रिवाजों के स्पष्टीकरण के लिये प्राय: दन्तकथाएं ईजाद कर ली जाती है।

रिवाज और क़ानून. कानून-विद्या के ऐतिहासिक सम्प्रदाय ने रिवाज और कानून के सम्बन्ध पर बहुत जोर दिया है। निश्चय ही आदिम युग के जन-समूहों मे रिवाज ही क़ानून होता है, और कानून की आधुनिक प्रणालियों में बहुत कुछ ऐसा है जो पुराने रिवाज पर आधारित है। वेस्टरमार्क (Westermarck) कहता है कि स्वयं कानूनों का पालन भी प्राय: इसलिए अधिक होता है कि वे रिवाज होते है न कि इसलिए कि वे कानून होते हैं। प्राय: कानून के मुकाबले मे रिवाज की जीत होती है, और अनेक बार जब कोई रिवाज किसी क़ानून को नहीं हटा सकता तब उस क़ानून के तोड़नेवाले को दंड देने मे वह बहुत बाधक होता है; योरोप में द्वन्द्व-युद्ध (duel) के बारे में लोगों का रुख़ देखिए। इसी तरह योरोप के कुछ देशों में मृत्यु-दण्ड का क़ानून है, लेकिन यह दण्ड दिया नहीं जाता। रिवाज का कानून से सादृश्य इस बात

मे है कि दोनों ही बाध्यतामूलक होते हैं और इस तथ्य मे भी कि कानून की तरह रिवाज भी केवल बाहरी बातों का ख़याल रख सकता है, अन्दरूनी इरादों का नही। कानून से रिवाज के सादृश्य से यह महत्त्वपूर्ण बात प्रकट होती है कि रिवाज मशीन की तरह दोहराने मात्र के कारण नही होता, बल्कि वस्तुतः एक समझपूर्ण निर्णय का प्रकाशन होता है, और उसके मूल में भले और बुरे का स्पष्ट ज्ञान छिपा रहता है। इस प्रकार रिवाज पर आधारित नियम भले और बुरे की लोक-धारणाओं के प्रकाशन होते है, चाहे ये धारणाएं कितनी ही अविकसित और धुधली क्यों न हों।*

अग्रेजी शब्द 'ईथिक्स,' 'मोरैलिटी', नैतिकता और रिवाज के घनिष्ठ सम्बन्ध को प्रकट करते है। इतिहास की दृष्टि से नैतिकता का विकास बहुत कुछ व्यवहार का एक विवेकपूर्ण आधार खोजने की कोशिश से, रिवाज ने व्यवहार के जो नियम बनाये है उनके गुण-दोष जाचने की और अगर जरूरी हो तो उनको नया रूप देने की कोशिश से हुआ है। इस बात को बताने की शायद ही कोई जरूरत होगी कि यह प्रक्रिया अभी तक बहुत अधूरी है, और कि हमारी आजकल की नैतिकता अभी तक बहुत कुछ परम्परागत ही है और विचारपूर्ण अवस्था को नही पहुची है। वेस्टरमार्क ने इस बात की ओर सकेत किया है कि कार्य की परम्परागत पद्धतिया अभी तक बाकी हैं, यानी ऐसे कार्य जो आम तौर पर रिवाज होने की वजह से किये जाते है लेकिन फिर भी नैतिक दृष्टि से बुरे माने जाते है। लेकिन ऐसे मामलो मे यह सन्देह होता है कि

* देखिए Vinogradoff, "Commonsense in Law", Ch. on "Custom"

नैतिक दृष्टि से बुरा समझने की अनुभूति शायद सच्ची या गहरी नही होती, और इसलिए रिवाज को किसी समुदाय की वास्तविक नैतिक बुद्धि का एक बहुत अच्छा सूचक माना जा सकता है। फिर भी रिवाज के अन्दर नैतिकता का तमाम क्षेत्र नही आता, क्योंकि कानून की तरह रिवाज भी केवल बाहरी बातों से ही सम्बन्ध रख सकता है।

जो कुछ अब तक कहा गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रिवाज और कानून दोनो ही एक तरह से किसी समुदाय की विकसित होती हुई नैतिक बुद्धि के प्रकाशन है। इस तथ्य को राष्ट्रीय मन या आत्मा के सिद्धान्त के समर्थन मे पेश किया गया है। खास तौर से कानून के बारे मे तथाकथित ऐतिहासिक सम्प्रदाय का यह मत है कि किसी समुदाय के सभी सदस्यों में उस समुदाय की जो प्रतिभा स्वय को प्रकट करती है, कानून उसी की उपज है, किसी विधान-निर्माता के इरादे का फल नही। इस मत के अनुसार विधान-निर्माता का काम नये नियम बनाना नही है, बल्कि वैधानिक चेतना की वर्तमान अवस्था को प्रकट करना है। कानून-विद्या का ऐतिहासिक सम्प्रदाय (Historical School of Jurisprudence) "रोमान्टिक" आन्दोलन का एक प्रकट रूप था और इसका विकास प्रमुख रूप से अठारहवी शताब्दी के बुद्धिवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ था। लेकिन उक्त सम्प्रदाय के लेखको की राष्ट्रीय मन की धारणा कुछ अस्पष्ट और अमूर्त्त थी, और जहा तक कानून के इतिहास का ताल्लुक है यह एक उर्वर विचार बिल्कुल भी सिद्ध नही हुआ है। साविन्यी (Savignyc), जो कि इस सम्प्रदाय का संस्थापक था, के एक शिष्य ने (Puchta—१७९८-१८४६) निश्चय ही लोक-मनस् को एक व्यक्ति का रूप दिया था और व्यक्तिगत चेतना से इसका स्वतंत्र अस्तित्व माना था। यह लोगों के

किसी समुदाय के ऐतिहासिक जीवन की उपज भी नही है, बल्कि उस समुदाय के ऐतिहासिक विकास के प्रारम्भ से ही इसकी सत्ता रहती है और यह उसके रिवाजों और इतिहास दोनों को निर्धारित करता है। यह स्पष्ट है कि व्याख्या के साधन के रूप में इस तरह की धारणा कोई मदद नही कर सकती और निश्चय ही इसका नतीजा चक्राकार दलीले (circular argument) होंगी; किसी समुदाय की आत्मा केवल उसके प्रकाशनों से ही जानी जा सकती है और इन प्रकाशनों की उत्पत्ति उस आत्मा से होती है। आगे यह भी ध्यान देने की बात है कि उक्त सम्प्रदाय के ज्यादातर अनुयायियों ने राष्ट्रीय आत्मा को एक वस्तु या व्यक्ति समझने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून की सच्चाई से इनकार किया है, क्योंकि राष्ट्रीय आत्माएं तो है लेकिन मानवता की आत्मा नाम की कोई चीज नही है, और फलत. कोई भी क़ानून सम्पूर्ण मानवता को नही बांध सकता। इस सारे आन्दोलन के बारे में प्रो० विनोग्रैडोफ (Vinogradoff)* की प्रामाणिक उक्ति को उद्धृत करना शायद अच्छा रहेगा: "'रोमान्टिक' सिद्धान्त का रहस्यमय राष्ट्रवाद आलोचनात्मक परीक्षा की तथा वैज्ञानिक प्रगति की कसौटी पर खरा नही उतरा है। राष्ट्र एक दृष्टि से सजीव सत्ताएं है, लेकिन ठीक उस तरह की नही जिस तरह की व्यक्ति है। वे अपने विकास में न झुकनेवाली शक्तियों से उसी सीमा तक नही घिरे होते, वे परिस्थितियों के खिलाफ़ ज्यादा आजादी के साथ प्रतिक्रिया करते है और उनकी समायोजना का विस्तार ज्यादा बड़ा होता है……। आइहेरिंग (Ihering) ने यह दिखा दिया है कि क़ानून की प्रगति एक अचेतन विकास का परिणाम मात्र नहीं है, जो

---

* "Historical Jurisprudence", vol. I, पृष्ठ १३४।

विकास की जन्मजात स्वभाव और परिवेश के कारण होता है, बल्कि सामाजिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिये इरादे से की गई कोशिशों का भी परिणाम है……। शुरू के समयों में क़ानून भाषा और दन्तकथाओं की तरह थोड़े-बहुत अनजाने तरीक़े से विकसित होते हैं, लेकिन बाद की अवस्थाओं में सामान्य और निर्वैयक्तिक (impersonal) से लगनेवाले प्रत्यय बन जाते है जो एक प्रतिमान के अनुसार ढले हुए सिक्कों की तरह बग़ैर कठिनाई के दुनिया में फैल जाते हैं।"

कानून-विद्या के ऐतिहासिक सम्प्रदाय के ऊपर किसी हद तक हेगल का असर रहा, लेकिन हेगल के सिद्धान्त को, ख़ास तौर से उसके उस रूप को जो हेगल के अग्रेज अनुयायियो में पाया जाता है, इस तरीके से कहा जा सकता है कि प्रो० विनोग्रैडोफ (Vinogradoff) की ऊपर उद्धृत उक्ति से उसकी बिल्कुल सगति रहे। इस मत के अनुसार सामान्य कृति अनिवार्य रूपसे बौद्धिक है और कानून इस बौद्धिक कृति का प्रकाशन है। एक तरह से यह सही है, क्योंकि कानून और रिवाज मे निश्चय ही अच्छे और बुरे को धीरे-धीरे विकास करने वाली बुद्धि प्रकट होती है। लेकिन लोगो की कृति को एक अलग स्वतत्र सत्ता मानना गलत लगता है। जो क़ानून बने हुए है वे कई मनों की परस्पर-क्रिया की उपज है और उनमे बौद्धिकता का जो तत्व रहता है उसको बढ़ा-चढ़ा कर नही दिखाना चाहिए। कानून को एक सामान्य कृति का प्रकाशन मानने के सिद्धान्त के पीछे असल मे वह कठिनाई है जो क़ानून के बाध्यतामूलक होने के तथ्य को समझने मे पैदा होती है। ऐसी दलील देना स्वाभाविक लगता है कि व्यक्ति को किसी क़ानून का पालन करने में अपने अन्दर जिस बाध्यता की अनुभूति होती है उसका स्पष्टीकरण केवल यह दिखाकर ही किया जा सकता है कि "वास्तव

में" वह स्वयं उस क़ानून को चाहता है, यद्यपि उस क्षण "व्यवहार में" उसे नापसन्द कर सकता है, कि वह उस कानून की आवश्यकता को सामान्य रूपमे स्वीकार करता है, हालाकि स्वय उसका पालन करना कठिन महसूस करता है। लेकिन असल मे यहा दो समस्यायो को उलझा दिया गया है। हमें चाहिए कि हम बाध्यता की अनुभूति के उद्गम की समस्या को साफ़-साफ़ बाध्यता के औचित्य के तार्किक् आधार की समस्या से अलग रखें। पहली समस्या मनोवैज्ञानिक इतिहास की दृष्टि से शायद बहुत कुछ इस तथ्य के कारण पैदा होती है कि कानून और रिवाज व्यक्ति के ऊपर बाहर से लादे जाते है और उनको समुदाय का सम्मान प्राप्त रहता है जिसकी कृति का प्रकाशन उनको माना जाता है। लेकिन बाध्यता का तार्किक आधार इस तथ्य मात्र में नही पाया जा सकता कि वे कृति की उपज है, चाहे कृति समुदाय की हो चाहे व्यक्ति की। खाली यह तथ्य कि समुदाय की या मेरी स्वय यह इच्छा है कि एक बात इस तरह से हो, इसका कारण नहीं हो सकता कि उस बात को इस तरह से होना चाहिए। बाध्यता चाहने के मनौवैज्ञानिक तथ्य मात्र से नही होती। इसका आधार तो एक व्यक्ति-निरपेक्ष नैतिक व्यवस्थामे होना चाहिए जो कि तर्क से जानी जा सके, लेकिन ऐसी नैनिक व्यवस्था पसन्द होने पर निर्भर नही होती जैसे कि कोई ज्ञात वस्तु ज्ञान पर निर्भर नहो होती। जो कानून बना हुआ है वह इस व्यक्ति-निरपेक्ष नैतिक व्यवस्था के केवल आस-पास हो पड़ता है। क़ानून की बहुत-सी पद्धतियो मे ऐसे तत्व रहते है जो तर्क की दृष्टि से उचित नही है, फिर भी लोग वस्तुतः उनका पालन करने की बाध्यता महसूस करते है। इसलिए सामान्य कृति का सिद्धान्त तथ्योको वस्तुतः छिपाता है, और इसके अलावा इसके खिलाफ़ यह आपत्ति भी की जा

सकती है कि ऐतिहासिक सम्प्रदाय के सिद्धान्त की तरह यह संकीर्ण और दूसरो का ख्याल न करनेवाले राष्ट्रवाद का समर्थक बन जाता है। जैसा कि हम देख चुके है, यह रूढ़ियों का रक्षक भी है और समाज की जब जो स्थिति रही है उसका प्रशसक भी। लेकिन कानून का ऐतिहासिक विकास और उसका नैतिक औचित्य दानो का ही वर्णन इस तरह मे किया जा सकता है कि सामान्य कृति को एक स्वतंत्र सत्ता न मानना पड़े। जैसा कि डुग्वी (Duguit)* ने कहा है, "सभी कृतिया व्यक्तिगत कृतिया है; सबका मूल्य एक-जैसा है; उनमे कोई तारतम्य नही है। अगर केवल व्यक्ति का विचार किया जाय तो वे सब बराबर है, उनका मूल्य केवल उस लक्ष्य पर निर्भर होता है जिसका वे अनुसरण करती है। जो शासन करते है उनकी कृति मे स्वय कोई शक्ति नही है; उसका मूल्य और शक्ति केवल वही तक है जहा तक वह सगठन और सार्वजनिक सेवा कर सकती है।"

* "Law and the State", पृ० १८४।

८

सम्प्रदाय, संघ और संस्थाएं

सम्प्रदाय (community) के स्वरूप की समस्या नीति-विज्ञान, समाज-विज्ञान, कानून, राजनीति और दर्शन मे मौलिक सवालो को पैदा करती है, और इस प्रकार बहुत ही जटिल है। व्यक्ति और समाज में क्या सम्बन्ध है? सम्प्रदाय क्या है? क्या यह एक योग मात्र है या इसके अन्दर कोई इस तरह की एकता होती है जैसी शरीर या व्यक्ति के अन्दर पाई जाती है? सम्प्रदाय के अन्दर रहनेवाले सामाजिक समूहो का स्वरूप क्या है, अथवा उनका समष्टि से क्या सम्बन्ध है? क्या सम्प्रदाय के अपने अलग लक्ष्य होते है, या उसके अन्दर रहनेवाले जो व्यक्ति है केवल उनके लक्ष्यो की पूर्ति को सम्भव बनाने के लिये ही इसका अस्तित्व है? सम्प्रदाय और व्यक्ति के वैषम्य मे वाक़ई कोई सार्थकता है, या यह गलत पृथक्करण पर आधारित है? ये और इस तरह के अन्य प्रश्न जवाब मागते हैं, ख़ास तौर से इस समय जबकि सम्प्रदाय के अन्दर तगड़े समूह जोर पर आ गये है, राज्य की सर्वश्रेष्ठ शक्ति और योग्यता को ललकार रहे हैं तथा सम्प्रदाय से अपने सम्बन्धों को नये सिरे से क़ायम करने की मांग कर रहे हैं। लेकिन इन सवालों मे से ज्यादेतर सम्प्रदाय के स्वरूप के सवाल पर केन्द्रित है। इस सवाल के

अनेक जवाब दिये गये हैं, लेकिन कुछ समय पहिले तक सामाजिक सत्ता के स्वरूप के बारे में सबसे ज्यादा माना जानेवाला सिद्धान्त शारीरिक-सिद्धान्त (organic theory) रहा है। हमें यहां इस सिद्धान्त को जिन अनेक विभिन्न तरीक़ों से पेश किया गया है उनके विस्तार में जाने की ज़रूरत नही है, और न यह जरूरत है कि सम्प्रदाय और शरीर के सादृश्य को कुछ लेखकों ने जिस हास्यजनक-पराकाष्ठा तक बढ़ाया है उसका दुबारा उल्लेख करें। यह सिद्धान्त अपने अच्छे से अच्छे रूप मे कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों को अवश्य प्रकाश में लाता है; इनका संक्षेप मे उल्लेख यहां किया जाता है। सबसे पहिले, इसका इस बात पर जोर देना ठीक है कि समाज में जो व्यक्ति होते है वे आवश्यक रूप से और आन्तरिक रूप से जुड़े रहते है और कि उनके पारस्परिक सम्बन्धों से ही सामाजिक समष्टि का निर्माण होता है। इस दृष्टि से समाज एक शरीर है, इस अर्थ में नही कि यह एक जानवर या पेड़ की तरह है, बल्कि इस अर्थ में कि "यह एक समष्टि है जिसका निर्माण उसके भागों के पारस्परिक सम्बन्धों से होता है और जिसका प्रत्येक भाग शेष भागों से पारस्परिक सम्बन्ध रखकर जीवित रहता है" (हॉबहाउस)। दूसरी बात यह है कि इस सिद्धान्त का इस तथ्य पर ज़ोर देना ठीक ही है कि सम्प्रदाय एक कृत्रिम रचना नहीं है, बल्कि एक जीवित चीज़ है, प्राकृतिक रूप से विकसित होनेवाली है। इस दृष्टि से भी समाज दूसरे शरीरों जैसे बिल्कुल नहीं होते, उदाहरण के लिये, दूसरे शरीरो की तरह न वे बढ़ते है, न प्रजनन करते हैं और न मरते है। फिर भी परिवेश से अनुकूलता क़ायम करने और समायोजन के लचीलेपन मे उनका कुछ-कुछ शरीर-जैसा स्वभाव होता है, और व्यक्तियों के अकस्मात् इकट्ठे हो जाने से तो निश्चय ही वे नहीं बनते। तीसरी बात यह है कि शारीरिक

सिद्धान्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज का एकाएक आमूल रूपान्तर कर देना मुश्किल* है और कि सामाजिक प्रश्नों को एक-दूसरे से अलग करके हल करना खतरनाक है—अर्थात् सामाजिक मामलो के पारस्परिक सम्बन्ध इतने घनिष्ठ होते है कि सामाजिक समस्या का कोई अंग बाकी पर असर डाले बगैर नही सुलझाया जा सकता।

उक्त सिद्धान्त के ये महत्त्वपूर्ण तत्व है, लेकिन इसमे खतरा यह है कि इससे लोग मौजूदा सम्प्रदायों की एकता को बहुत बढाकर समझने लगते है, हालांकि ये सम्प्रदाय शारीरिक एकता से अलग-अलग मात्रा मे सादृश्य रखते है। केवल इतना ही नही, बल्कि अगर सबसे ज्यादा विकसित सम्प्रदायो को भी देखा जाय तो उनमें व्यक्ति का सम्प्रदाय से जो सम्बन्ध होता है उसको भी शारीरिक सिद्धान्त ठीक रूप मे नही पेश करता। सम्प्रदाय अत्यधिक जटिल होता है और उसमे एकता के अन्दर एकता, समूह के अन्दर समूह अत्यन्त विविधता के साथ रहते है और व्यक्ति के अपने समूह से सम्बन्ध अलग-अलग मामलो मे अलग-अलग होते है। इसके अलावा शारीरिक सिद्धान्त सम्प्रदाय मे भरे हुए सघर्ष और असामजस्य के तत्वो की उपेक्षा करता है। एक दृष्टि से सामूहिक जीवन होता है और सम्प्रदाय अपने को एक बनाये रखने की कोशिश करता है, लेकिन जो एकता प्राप्त होती है वह प्रायः जीवन-शक्ति के उन्मुक्त होने से प्राप्त नही होती, बल्कि दमन और बलपूर्वक रोकने से प्राप्त होती है, और "सम्प्रदाय के जीवन" का अर्थ यथार्थ में

* फिर भी, यह ख्याल रखना चाहिए कि कुछ लोगों ने क्रान्ति का औचित्य दिखाने के लिये आकस्मिक परिवर्तन (mutations) के सिद्धान्त की मदद ली है।

सम्प्रदाय के एक बहुत छोटे से वर्ग का जीवन हो सकता है। सबसे बडी बात यह है कि शारीरिक सिद्धान्त इस तथ्य को भूल जाता है कि यद्यपि व्यक्ति का सम्प्रदाय से आवश्यक सम्बन्ध होता है,—सम्प्रदाय परस्पर सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियो के अलावा कोई चीज नही है—तथापि वह उन सम्बन्धो मे समाप्त नही हो जाता, कि व्यक्ति चेतना का एक अपनी तरह का अकेला केन्द्र होता है जो समष्टि के जीवन मे विलीन नही होता।

शारीरिक सिद्धान्त मनोविज्ञान की भाषा मे भी पेश किया गया है। कहने का मतलब यह है कि सम्प्रदाय को मन या व्यक्ति भी कहा गया है। इस सिद्धान्त की पहिले ही आलोचना की जा चुकी है और हम इसको अपर्याप्त और भ्रामक कहकर टालने के कारण भी देख चुके है। सम्प्रदाय के सभी अतिवैयक्तिक (over-individual) सिद्धान्तों के खिलाफ एक मौलिक आपत्ति यह है कि वे अनजान मे सम्प्रदाय को व्यक्ति मान बैठते है, उसके जीवन को उसके आपस में सम्बन्ध रखने वाले सदस्यों के जीवन से भिन्न मानने लगते है, तथा उस पर ऐसे लक्ष्यो का आरोप कर देते है जो उसके सदस्यों के लक्ष्य नहीं है। हम निश्चय ही आम तौर पर समूहों और सम्प्रदायों पर व्यक्तित्व का आरोप करते है, इस अर्थ में कि वे हमारे अन्दर ऐसी रुचियों और सवेगों को उभारते है जो व्यक्तियों के द्वारा उभारी जानेवाली रुचियों और संवेगों की तरह होते है। फिर कानून के और नैतिक प्रयोजनों के लिये भी समूह प्रायः व्यक्ति अर्थात् अधिकार और कर्त्तव्योंवाले माने जाते है। लेकिन इन तथ्यों से कोई सच्ची सैद्धान्तिक कठिनाई पैदा नही होती। किसी की समझ में यह बात नही आयेगी कि समूह अपने कार्यों के लिये उत्तरा-दायी क्यों न रहें अथवा रुचि और संवेग उभारने मे असफल क्यों बने।

व्यक्तियों के लक्ष्यों की तुलना मे सम्प्रदाय के लक्ष्यों की समस्या ज्यादा मुश्किल है। जितने भी मूल्य हैं सब व्यक्तियों के लिये हैं और किसी ऐसी बात में होते हैं जो व्यक्तित्व के लिये आवश्यक हो। लेकिन इसमें सन्देह नही है कि व्यक्तित्व के हित अधिकाशत: अनिवार्य रूप से सामाजिक स्वभाववाले होते है, और व्यक्ति का कल्याण सही अर्थ में समाज का कल्याण है। समाज के कल्याण को निश्चय ही एक ऐसी चीज़ होना चाहिए जो उसको बनानेवाले व्यक्तियों को प्राप्त होती है, और दूसरी ओर व्यक्तियों के लक्ष्यों को ऐसा होना चाहिए कि समाज के सभी व्यक्तियों का सामंजस्यपूर्ण विकास उनमें शामिल हो सके, क्योंकि ये लक्ष्य नीति-विज्ञान की दृष्टि से अनिवार्य रूप से सामाजिक स्वरूपवाले होते हैं। फिर भी इस बात को लेकर नीति-विज्ञान में कठिन समस्याएं पैदा होती है जिनका विवेचन यहां सम्भव नहीं हैं। शारीरिक सिद्धान्त से इतना तो हम जरूर ही सीखते है कि व्यक्तियों के बीच के सम्बन्ध उनके व्यक्तित्व के लिये ज़रूरी हैं, लेकिन यह भी याद रखना चाहिए कि ये सम्बन्ध अनेक क़िस्म के होते है, कि ये सब समान रूप मे महत्त्वपूर्ण नही होते, और कि इनमे विरोध और सामंजस्य दोनों के ही तत्व मौजूद रहते है। सम्प्रदाय एक योग मात्र नहीं है, लेकिन साथ ही वह एक मन या व्यक्ति भी नही है। उसमें एकता की ओर प्रवृत्ति होती है, लेकिन प्राप्त हो जाने पर भी इस एकता को उन सम्बन्धों की तरह बताना काफ़ी नही है जो एक शरीर या व्यक्ति के अवयवो को आपस में बांधते हैं, क्योंकि तब यह एक अधिक जटिल किस्म की साम्बन्धिक एकता होगी।

इस विषय के ऊपर हाल में जो विचार प्रस्तुत किये गये है उन्होंने हमारे समाज के सिद्धान्त को स्पष्ट करने और आनुषांगिक रूप

मे वैज्ञानिक पदावली* को तैयार करने में महत्त्वपूर्ण सहायता पहुचाई है। सम्प्रदाय और संघ (association) में भेद करना और संघों तथा संस्थाओं (institutions) के सम्बन्ध को सही-सही निर्धारित करना जरूरी है। सम्प्रदाय को एक सामूहिक जीवन बितानेवाले सामाजिक प्राणियों का समूह समझना चाहिए, जिसमे अनन्त किस्मों के और अनन्त जटिलता रखनेवाले उन सम्बन्धो का समावेश होता है जो उस सामूहिक जीवन की उपज होते है या उसको सम्भव बनाते है। यह साफ है कि आदमियों के बीच बहुत से सम्बन्ध ऐसे होते हैं जो विधिवत् सगठन के अन्दर नही आते, या तो इस कारण कि वे इतने ज्यादे सूक्ष्म और मुलायम होते है कि व्यवस्था के अधिक या कम यांत्रिक रूपों के अन्दर कैद नहीं किये जा सकते, या इस कारण कि वे इतने सरल होते है कि इसकी उन्हें जरूरत ही नहीं होती। ये सम्बन्ध स्वभाव में अनिवार्यतः मानसिक होते हैं, लेकिन ये इतने विविध और अनेक होते है, सगति के साथ-साथ इनमें आपस में इतना विरोध भी होता है कि इनसे एकता का निर्माण नहीं हो सकता। इसके अलावा व्यक्ति सम्प्रदाय में भी पूरा-पूरा नहीं समाता। हालांकि उसे अपना विकास करने के लिये इसकी जरूरत होती है और उसकी मानसिक अन्तर्वस्तु में से अधिकांश उसके दूसरों से सम्बन्धों से, उसके दूसरों से प्रेम से, पसन्दगियों और नापसन्दगियों से, उसके कर्तव्यो से बनता है, फिर भी उसके अस्तित्व में एक ऐसी गांठ होती है जो विलक्षण और अविभाज्य होती है। इसलिए दूसरों से सम्बन्ध स्थापित करने के

---

* देखिए Maciver, "Community" और G. D. H. Cole, "Social Theory".

बावजूद वह उन सम्बन्धो मे नही समाता।

सघ से हमारा मतलब उन सामाजिक प्राणियों के समूह से है जो इस तथ्य के कारण एक-दूसरे से सम्बन्धित रहते है कि उन्होने आपस मे एक सगठन किया है, इस प्रयोजन से कि वे एक विशेष लक्ष्य या लक्ष्यो की प्राप्ति कर सके।

सघ सम्प्रदाय के आशिक रूप होते है। सम्प्रदाय मे आदमियो की सभी पारस्परिक रुचिया और सम्बन्ध शामिल रहते है, चाहे वे सगठित हों या न हों, जबकि सघों का अस्तित्व किसी निश्चित लक्ष्य को पूरा करने के लिये होता है। जिन प्रयोजनों के लिये सघो का अस्तित्व होता है उनके दायरे, व्यापकता और स्थायित्व के अनुसार सघो के दायरे, व्यापकता और स्थायित्व में भी फर्क होता है। यह कहने का अभिप्राय नही है कि सभी संघ जानबूझकर बनाये गये होते है और किसी चेतन उद्देश्य पर आधारित रहते है। स्पष्टत: ऐसी बात नही है। प्राय: वे अस्पष्ट तरीके मे महसूस होनेवाली जरूरतो और परिस्थितियो के दबाव के फलस्वरूप पैदा होते है, बहुत समय तक शायद अपने सच्चे उद्देश्य को जाने बग़ैर अपना रास्ता टटोलते रहते है, फिर भी स्वभावत: वे सब सप्रयोजन होते है अर्थात् जिस प्रयोजन के वे साधन होते है उसको जाने बिना उनको नही समझा जा सकता, हालाकि हो सकता है कि उस प्रयोजन का पूरा-पूरा ज्ञान सघ के सभी या अधिकाश सदस्यों को न हो।

सस्थाए सामाजिक प्राणियों के बीच रहनेवाले सम्बन्धों के निश्चित और स्वीकृति-प्राप्त रूप होते है, जो सम्बन्ध कि या तो सीधे एक के दूसरे से होते हैं या किसी बाहरी वस्तु के कारण होते है। हम देख ही चुके है कि सघों के पीछे संगठन रहता है। अगर किसी सार्वजनिक कार्य को पूरा

करने के लिये कई आदमियो को सहयोग करना है, तो श्रम का विभाजन, कार्यवाही के नियम इत्यादि का होना जरूरी है। दूसरे शब्दों मे, सघ के व्यक्तियो के आपसी सम्बन्धो को निर्धारित करना होगा और इसके लिये सबकी स्वीकृति प्राप्त करनी होगी। जब कभी संघ कुछ टिकाऊ होता है और ऐसे उद्देश्यो पर आधारित होता है जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होते है, तब हमेशा ऐसा ही होता है। इस तरह से प्रथाओ और कानूनो की, कार्यवाही के नियमो की, और कार्य-प्रणालियो की उत्पत्ति होती है जिन्हें हम सस्थाए कहते है। सघ जीवित चीजे होती हैं और वे सबके लक्ष्यों के लिये साथ-साथ काम करनेवाले व्यक्तियो से बनते है; सस्थाओं को उनके आपसी सम्बन्ध के रूप, संघ-बद्ध व्यक्तियों के कार्य के वे रूप मानना अधिक अच्छा रहेगा जिनको सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है। आम तौर पर सस्था और सघ को एक ही माना जाता है, लेकिन विचार की स्पष्टता के लिये दोनों को एक-दूसरे से अलग रखना ठीक होगा। हम आम तौर पर इमारतों को भी सस्था कहते है, लेकिन ऐसा कहने से हमारा मतलब असल में संस्था के बाहरी मूर्त रूप से यानी सस्था के साधन से होता है।

सघ सस्थाओ को उत्पन्न करते और जीवित रखते है, और सस्थाएं सघों पर प्रतिक्रिया करती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सस्थाएं सघो को पैदा करनेवाली लगती है, उदाहरण के लिये युद्ध फौज के निर्माण को पैदा कर सकता है (Hetherington और Muirhead)। लेकिन ऐसे मामलों का और गहरा विश्लेषण करना जरूरी है। युद्ध एक सस्था इस अर्थ मे है कि यह राज्य के नाम से पुकारे जाने वाले सघा के कुछ आपसी झगड़ों को निबटाने का एक स्वीकृत तरीक़ा है। असल में ये सघ ही उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये जिनके लिये युद्ध

करना पडता है फौजों का अर्थात् कुछ सोमित संत्रों का निर्माण करते हैं। सस्थाए सदैव सामाजिक मम्बन्धों के निश्चित रूप होती है—लेकिन कभी-कभी उनका सीधा सम्बन्ध एक स्पष्ट रूप-रेखावाले संघ से होता है, और कभी-कभी वे किसी तरह के सामाजिक व्यवहार में प्रकट होती है जो व्यवहार कि किसी बहुत ही सामान्य सघ से सम्बन्धित होता है।*

संघों और संस्थाओं का स्वभाव हमेशा, तब भी जब उनका निर्माण जानबूझकर नही किया जाता, ऐसा होता है जैसे कि, प्रो० बोसान्क्वेट† के शब्दों मे मानो उनकी स्थापना किसी उद्देश्य को पूरा करने के लिये हुई हो। इसलिए संस्थाओं को कृतियों के मिलने की जगह, पिण्डीभूत उद्देश्य (objectified purposes), व्यक्तियों के किसी समूह ने अपने सामने जो लक्ष्य रखा है उसका दृश्य आकार धारण करना कहा गया है। यहां कुछ सावधानी बरतने की जरूरत है। सबसे पहिले यह ध्यान रखना चाहिए कि यद्यपि संस्थाओं को केवल उनके प्रयोजनों से ही समझा जा सकता है, फिर भी हमे उनके आधारभूत सघो या सघो के व्यक्तियों को उन प्रयोजनों की पूरी-पूरी और स्पष्ट जानकारी नही मान लेनी चाहिए, जैसे कि हम यह नही मान सकते है कि सप्रयोजन व्यवहार कर सकनेवाले निम्न स्तर के जीवों को अपने प्रयोजनो का स्पष्ट ज्ञान रहता है। दूसरी बात, हमे प्रयोजन की एकता मान लेने का हक़ नही है। सस्थाए वे तरीके है जिनको समाज ने कुछ मागो को पूरा करने वाले, सघो को अपना अस्तित्व जारी रखने और सहयोग प्राप्त करने में

* यह ध्यान रखना चाहिए कि सस्थाएं सम्प्रदाय और सघ दोनों को शाखाए होती है।

† "Philosophical Theory of the State", पृ० २९७।

मदद करनेवाले मान लिया है। इसलिए सभी संस्थाओं में एक सामाजिक तत्व होता है, लेकिन यह याद रखना चाहिए कि वे कभी भी एक अकेले मन की उपज नही होती, और न हमेशा ही उनके पीछे साफ-साफ सोचे हुए, सगतिपूर्ण उद्देश्य होते है। वे कई मनों के मिलने की जगहें है और एक विचार के दूसरे से, एक कृति की दूसरी से टकराने से पैदा होती है; और इसलिए उनके अन्दर स्वार्थपरता के, अभिमान के, क्रूरता के और साथ ही आत्म-त्याग, वफ़ादारी और मानवोचित दया के भी तत्व मौजूद रहते है। इसलिए सस्थाओ मे जो बौद्धिक तत्व होता है उसे बहुत बढ़ा-चढ़ाकर नही दिखाना चाहिए, और सबसे ज्यादा जरूरी यह बात है कि हमे यह निर्धारित करने के लिये उनकी बराबर आलोचना करते रहना चाहिए कि वे सचमुच किन उद्देश्यों को पूरा करती है और कि उनके उद्देश्य इस योग्य है या नही कि हम उनके प्रति अनुराग रखे और अपनी शक्ति को उनके लिये खर्च करे। युद्ध एक सस्था है, लेकिन ऐसा आदमी बड़ा साहसी समझा जायगा जो यह कहेगा कि युद्ध एक तर्कोचित उद्देश्य को और एक नैतिक आदर्श को पूरा करता है। या आजकल की मज़दूरी की प्रथा को ही देखिए; यह दास-प्रथा के समाप्त हो जाने पर धीरे-धीरे आई है, लेकिन जिन उद्देश्यो को यह पूरा करती है वे सगतिपूर्ण नही है और न उन पर साफ़ तरीके से विचार किया गया है। यही बात किसी भी अन्य जटिल सस्था पर लागू होती है। फिर, किसी संस्था के पीछे रहने वाले उद्देश्य अधिकतर मामलों मे उसके सभी सदस्यों के लिये एक-जैसे बिल्कुल नही होते। मज़दूरी की सस्था का फ़ैक्ट्री मे काम करनेवाले मज़दूर के लिये वही मतलब बिल्कुल नही है जो मतलब उसका फ़ैक्ट्री के मालिक के लिये है; न दासता की सस्था दास और दास के स्वामी के लिये एक ही माने रखती है।

तो संस्थाएं एक अकेले मन के प्रकाशन नही है, बल्कि एक-दूसरे से सम्बन्ध रखनेवाले हजारों मनों की उपज है। हमेशा वे स्पष्टतया सोचे हुए उद्देश्यों के प्रकट रूप नही होती, बल्कि यह कहना कही ज्यादा सही है कि वे प्रयास और भूल के प्रयोग है जो सामाजिक प्राणियों के किसी कामचलाऊ समझौते पर पहुंचने की कोशिश के फलस्वरूप अधकार मे टटोलने जैसे तरीके से आगे बढ़ते है और जो जीवन की आवश्यकताओ को थोड़ा बहुत पूरा कर लेने के काबिल हो जाने पर सामाजिक मान्यता प्राप्त कर लेते है। खास तौर से यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी एक सस्था से कुछ व्यक्तियों के सम्बन्ध के जाने-बूझे हुए होने पर भी वैयक्तिक मनों का आपसी सम्बन्ध, उनके विरोध और सहयोग की मात्रा साफ-साफ़ सोच-विचार के बाद किसी एक मन के द्वारा निश्चित की हुई नही होती, और यही बहुत-सी सस्थाओ मे एकता न होने का कारण है।

जब हम व्यक्ति और संस्थाओं के सम्बन्धों की छानबीन करते हैं तब इन बातो पर ध्यान रखना चाहिये :

(क) कभी-कभी यह कहा जाता है कि सभी सस्थाए एक लाश के भार जैसी है, आत्मा के स्वच्छन्द विकास के रास्ते के रोडे है, और कि आधुनिक जीवन के संघो की जटिलता और सख्या व्यक्ति को मशीन की तरह बना रही है। शायद इस दलील की तह मे जो कारण है वह मशीन और प्रयोजन के सम्बन्ध के बारे में एक गलत विचार है। मैं समझता हू कि यह सिद्ध किया जा सकता है कि सप्रयोजन कार्य मशीन का विरोधी नही है बल्कि वस्तुतः उस पर निर्भर होता है। फिर भी उक्त आलोचना का महत्त्व है, क्योकि यह हमको संस्थाओं की सड़ जाने और अपनी जीवनी-शक्ति खो देने की प्रवृत्ति के खिलाफ़ सावधान करती है।

(ख) कभी-कभी यह कहा जाता है कि जड पदार्थों से ताल्लुक रखनेवाली सस्थाओ और उनमें होनेवाले परिवर्तनो का आदमी की आत्मा के ऊपर कोई भी असर नहीं हो सकता और कि अगर सच्चा सुधार करना है तो आत्मा मे ही परिवर्तन करना चाहिए। अरस्तू ने प्लैटो के साम्यवाद के खिलाफ जो दलील दी थी उसको देखिए: "निश्चय ही बुराइया राज्य को विकृत कर देती है, लेकिन वे सम्पत्ति की तरह प्राकृतिक चीजो से पैदा नही होती। ये बुराइया मानव-स्वभाव की दुष्टता से पैदा होती है (११.५.१२)। सम्पत्ति को बराबर करने की ज़रूरत नही है, जरूरत है आदमियो की इच्छाओ को बराबर करने की (११.७.८)।" हमे आध्यात्मिक साधनों का, जैसे शिक्षा, रिवाज और क़ानून, दर्शन का इस्तेमाल करना चाहिए; और वह इस बात पर आश्चर्य प्रकट करता है कि जिस प्लैटो ने शिक्षा को इतना महत्त्व दिया था वही ऐसे नियमो का सहारा लेता है (११.५.१५)। लेकिन वास्तव मे आत्मा का जड़ द्रव्य से विच्छेद नही किया जा सकता और जीवन के रूपो का स्वय जीवन पर अत्यधिक प्रभाव होता है। सस्थाए अगर न होती तो व्यक्ति एक सम्भावना मात्र बना रहता; उसके विकास की दिशा और उसके मन के अन्दर जो कुछ रहता है वह बहुत कुछ उसके सामाजिक सम्बन्धों के द्वारा निर्धारित होता है। सस्थाओं और आदमी के अन्दर की सम्भावनाओ का सम्बन्ध वहा तक शारीरिक (organic) है जहां तक उन सम्भावनाओ के पूरा होने का वास्तविक रूप सस्थाओं पर निर्भर होता है।

(ग) इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि "मानव-स्वभाव नहीं बदला जा सकता" ऐसा कहना ग़लत है। इसके विपरीत मानव-स्वभाव बदला जा सकता है और सामाजिक परिस्थितियों और संस्थाओं के

परिवर्तन के साथ-साथ उसकी अभिव्यक्तियां भी बदलती है। जन्मजात झुकावो के एक ही रहने पर भी लोग अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग तरह से व्यवहार करेंगे।* "शायद हालैंड के एक आदमी का जन्मजात झुकाव बहुत-कुछ वैसे ही होता है जैसे एक जर्मन का, लेकिन प्रौढ़ जीवन में उसकी सहज-प्रवृत्तियां सैन्यवाद और एक महान् शक्ति होने के घमंड के अभाव के कारण बहुत भिन्न होती है। यह स्पष्ट है कि अविवाहितो की सहज-प्रवृत्तियां दूसरे स्त्री-पुरुषोंकी सहज-प्रवृत्तियो से बहुत भिन्न होती है। करीब-करीब हरेक सहज-प्रवृत्ति बाहर निकलने के उन रास्तों के अनुसार जो उसे मिलते है कई अलग-अलग रूप धारण कर सकती है। जो सहज-प्रवृत्तियां कलात्मक या बौद्धिक सृष्टि पैदा करती हैं वही अन्य परिस्थितियों मे युद्धप्रियता पैदा कर सकती है।" †

(घ) हालाकि इस तरह से.सस्थाए आदमी के विकास के लिये बहुत जरूरी है और आदमी की छिपी हुई सम्भावनाओ से उनका अनिवार्य सम्बन्ध है, फिर भी इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि इस वजह से आदमी को उनकी पूजा करनी चाहिए और उनके सामने बिल्कुल झुक जाना चाहिए। संस्थाएं आदमी की जिन्दगी के लिये जरूरी अवश्य है और जीवन की आवश्यकताओं से उनका जन्म होता है, लेकिन यह दलील देना खतरे से खाली नही है कि एक दी हुई

---

* जन्मजात प्रवृत्तियो के बदलने का प्रमाण बहुत कम मिलता है, लेकिन उनके पूरे होने के तरीकों का जहां तक सवाल है, मानव-स्वभाव बदला जा सकनेवाला लगता है।

† Bertrand Russell, "Principles of Social Reconstruction," पृ० ४०।

संस्था की कोई एक खास शक्ल व्यक्तित्व के लिये ज़रूरी है और इस कारण पुनीत और अनुल्लंघनीय है। यह दलील व्यक्तिगत सम्पत्ति, राज्य, चर्च, सेना, नौसेना इत्यादि के समर्थन में दी गई है। इसमें शक नही है कि किसी आवश्यकता को पूरा करने के लिये ये पैदा हुए हैं, लेकिन पैदा हो जाने के बाद इनमें परिवर्तन का विरोध करने और आलोचना को न सह सकने की प्रवृत्ति आ जाती है और इस तरह से ये अत्याचारी और जीवन और स्वच्छन्द विकास के बाधक बन जाते हैं। सभी सस्थाओं को उस मात्रा से जांचना चाहिए जिस मात्रा में वे व्यक्तित्व के विकास को सम्भव बनाती है, और अगर हम पहिले से यह मान लेते हैं कि संस्थाएं अपनी मौजूदा शक्ल में व्यक्तित्व के लिये ज़रूरी है तो उनकी प्रभावपूर्ण आलोचना असम्भव हो जायगी। इस प्रकार, हालाकि यह मानना अच्छा हो सकता है कि सम्पत्ति का कोई रूप अर्थात् चीजों के ऊपर थोड़ा या बहुत पूर्ण अधिकार आत्म-विकास के लिये जरूरी है, तो भी इस वजह से यह नहीं मान लेना चाहिए कि आजकल सम्पत्ति का जो रूप मौजूद है वह जरूरी ही है। असल मे यह आसानी से दिखाया जा सकता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति का मौजूदा रूप और खास तौर से इससे प्रोत्साहन पानेवाला रुपये का जो लोभ है वह कई जिन्दगियों को पंगु बना देना है और उनके विकास को रोक देता है। इसके कई अन्य उदाहरण आसानी से दिये जा सकते है। इसलिए अगर हम संस्थाओं को पिण्डीभूत उद्देश्य (objectified purposes) कहना ही चाहते है तो हमें इतना और जोड़ देना चाहिए कि इन उद्देश्यों की स्पष्ट जानकारी नहीं होती और कि ये प्रायः परस्पर-विरोधी और असंगति-पूर्ण होते है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, संघों का अस्तित्व कुछ उद्देश्यों को पूरा

करने के लिये होता है और जितने विशिष्ट सामाजिक उद्देश्य होते हैं उतने ही अलग-अलग सघ होते है। हरेक संघ व्यक्ति की और इसलिए सम्प्रदाय की एक आशिक रुचि का प्रकाशन होता है, लेकिन कुछ सघ बहुत ही ज्यादा विशाल होते है, इस तथ्य के कारण कि वे ऐसी रुचियो पर आधारित होते है जो लोगों की एक बडी सख्या को या राज्य की तरह किसी समाज के सभी सदस्यो को प्रभावित करती है। सभी सघो को इकट्ठा मिलाकर समाज (society)* कहा जा सकता है, लेकिन समाज सम्प्रदाय (community) के बराबर नही है, क्योंकि सम्प्रदाय में ऐसे सम्बन्ध भी शामिल रहते है जो सघो या सस्थाओ मे नही बाधे जा सकते। इसलिए व्यक्ति और सम्प्रदाय का सम्बन्ध सबसे ज्यादा घनिष्ठ और नजदीकी है। व्यक्ति का सघो से सम्बन्ध बदलता रहेगा। हो सकता है कि दार्शनिक की टिकट एकत्र करनेवालो के सघ से कोई रुचि न हो और चर्च या व्यावसायिक सघ मे शायद थोडी-सी रुचि हो। कुछ भी हो, सब सघो के सम्बन्ध भी एक साथ मिलकर उसके व्यक्तित्व को पूरा नही कर पाते, प्रथम, इस वजह से कि समाज के पीछे सम्प्रदाय अपने अनन्त सूक्ष्म सम्बन्धो के साथ अस्तित्व रखता है और, द्वितीय, इस वजह से कि व्यक्तित्व का एक हिस्सा सम्प्रदाय मे भी नही आता।

---

* प्रो० हॉबहाउस "समाज" को सबसे व्यापक शब्द मानते है।

६

भीड़ का मनोविज्ञान

सम्प्रदाय और उसमे रहनेवाले सामाजिक व्यक्तियों के सम्बन्ध के सामान्य स्वरूप का विवेचन कर लेने के बाद अब हम छोटे-मोटे सामाजिक समूहो की, जैसे भीड (crowd), अशान्त भीड़ (mob), सगठित समूह इत्यादि की, मनोवैज्ञानिक विशेषताओं की जाच कर सकते है। हम तथाकथित "भीड़ का मनोविज्ञान" से शुरू कर सकते है। इस विषय पर लिखे हुए ग्रन्थो की आजकल एक काफ़ी बडी तादाद मौजूद है, फिर भी प्रोफेसर ग्रैहम तैलैज ने अपने ग्रन्थ "Great Society" मे जो यह कहा है कि इस समूचे विषय का दुबारा वर्णन और दुबारा जाच ज़रूरी है, वह अब भी सही है। खास तोर से समूहार्थक-शब्दों के इस्तेमाल से और अलग-अलग किस्म के सामाजिक समूहों के सही वर्गीकरण और सही नामो के अभाव से बहुत उलझन पैदा हुई है। लु बा (Le Bon) जिसका ग्रन्थ बहुत पढ़ा जाता है, भीड़ शब्द को एक बहुत ही व्यापक अर्थ में इस्तेमाल करता है जिससे, उदाहरण के लिये, "भीड़ों का युग" (era of crowds) और "लोक-समुदाय का शासन" (rule of the masses) ये शब्द बिल्कुल एकार्थक हो गये है। उसके मत से "मनोवैज्ञानिक भीड़" के

लिये शारीरिक उपस्थिति ज़रूरी नहीं है। जो चीज़ ज़रूरी मालूम पड़ती है वह यह है कि लोगों की एक बड़ी तादाद के विचार और अनुभूतियां एक ही दिशा में मुड़ें और इसके फलस्वरूप, लु बां के अनुसार, एक क़िस्म का सामूहिक मन पैदा हो जाय।

सर मार्टिन कन्वे (Sir Martin Conway)* ने भी भीड़ शब्द में अलग-अलग अस्तित्व रखनेवाले आत्म-चेतना-युक्त आदमियों के किसी भी समह को शामिल किया है और अशान्त भीड़, जन-सम्मेलन, जाति, साम्राज्य, राष्ट्र, आपस में बहुत भिन्नता रखनेवाले इन सब समूहों को भीड़ कहा है। टार्डे ने भीड़ और जनता के बीच अन्तर करके एक उपयोगी काम किया है। अगर हमें अवाच्छनीय व्यापक सामान्योक्तियो से बचना है तो निश्चय ही सामाजिक समूहों के एक प्रारम्भिक वर्गीकरण की बहुत बडी जरूरत है।

हम इस काम को सामाजिक समूहो को संगठित और असगठित मे विभाजित करके शुरू कर सकते है। (यह निस्सन्देह केवल मात्रा की बात है, क्योकि एक अस्थायी भीड़ मे भी एक तरह का सगठन आ जाता है।) असगठित सामाजिक समूहों को सुविधा के साथ उन समूहों मे जो शारीरिक उपस्थिति या सम्पर्क पर निर्भर होते है, जैसे भीड़ और अशान्त भीड़, और उन समूहों मे जो मुख्य तौर पर शारीरिक सम्पर्क पर निर्भर नही रहते, जैसे जनता, बांटा जा सकता है। सगठित समूहों में सभी तरह के संघ आ जाते हैं, यानी व्यक्तियों के वे समूह जिनका संगठन अपेक्षाकृत स्थायी होता है और जिनमें सामूहिक कार्य और विचार के रूप अपेक्षाकृत विकसित होते हैं। यह बड़े अफ़सोस की बात

---

* "The Crowd in Peace and War".

है कि भीड़ों और अशान्त भीड़ों की मानसिक विशेषताओं पर जितना ध्यान दिया गया है उतना संघों के मनोविज्ञान पर नहीं दिया गया।

पहिले हम उन समूहों पर विचार करेंगे जिनमें व्यक्तियों की शारीरिक उपस्थिति या सम्पर्क रहता है। इनमें भीड़ और अशान्त भीड़ शामिल होती है। अशान्त भीड़ भीड़ का ही एक रूप है जिसके आवश्यक गुण अस्थिरता और अव्यवस्था है। तो भीड़ क्या है? सबसे पहिली बात, भीड़ मे ध्यान एक ही दिशा में होना चाहिए। लोगों का एक झुण्ड जिसमे हर आदमी अपने काम से काम रखता है, भीड़ नहीं है। भीड़ के लिये रुचि की एक समान वस्तु का होना जरूरी है जो भीड़ के हरेक आदमी के मन में एक तरह के विचारों और सवेगों को जाग्रत करे। इसके अलावा भीड़ में आम तौर पर हर आदमी को दूसरों की "उपस्थिति" की अनुभूति रहती है और यह समझ भी रहती है कि उसके विचारों और संवेगों में दूसरे हिस्सा ले रहे हैं। ये विशेषताएं भीड़ के सदस्यों के किसी मात्रा मे समान होने पर निर्भर होती हैं। एक ही रोचक वस्तु से आर्कषित होने के लिये लोगों में काफ़ी मात्रा में समानता होनी चाहिए।

भीड़ के सभी वर्णनों में इन तथ्यों के ऊपर जोर दिया गया है, हालाकि इनसे जो-जो निष्कर्ष निकाले गये हैं उनमे एकता नही है। उदाहरण के लिये, हम "तना हुआ ध्यान," "प्रतीक्षा की अनुभूति", "चेतना का संकुचित होना" तथा उन चीजों के बारे मे सुनते है जो प्राय: ध्यान की एकाग्रता के साथ होती है, जैसे, गहरी खामोशी, रुकी हुई सास। पैडरेस्की (Paderewski) के प्रदर्शन का नीचे लिखा वर्णन पढिए। "वहां एक चहचहाहट है, प्रोग्राम की फुसफुसाहट है, पंखे हिल रहे हैं, टोपियों पर लगे पख हिल रहे हैं, प्रतीक्षा का सामान्य

वातावरण है और रोशनिया बुझ जाती है। एक खामोशी छा जाती है। सभी आखे एक छोटे से दरवाजे की ओर मुडती है जो रंगभूमि की ओर खुलता है, वह दरवाजा खुल जाता है। पैंडरेस्की प्रवेश करता है। उसका तालियो के साथ स्वागत होता है, लेकिन फिर खामोशी छा जाती है और एक लम्बी आह निकलती है जो तीन हजार औरतो के एक लम्बी गहरी सास ऊपर खीचने से पैदा होती है। पैंडरेस्की पियानो पर बैठ जाता है। हजारों आखे उसकी हरेक छोटी-छोटी गति को छोटी-छोटी दूरबीनो मे से एक ऐसी तन्मयता के साथ देखती है जिसे देखना पीड़ाप्रद लगता है। वह मूर्ति है और वे मूर्तिपूजक। प्रदर्शन के अन्त में सबसे ज्यादा शिष्ट औरते भी उसके प्रभाव मे आकर शिष्टता भूल जाती है। आहे, सिसकिया, मुट्ठियों का कसना, सिर का झुकना चल रहे है। औरतो की अशान्त भीड में 'वह मेरा सर्वेसर्वा है!' इस तरह के जोशीले सम्बोधन सुनाई दे रहे है।"*

पुराने जमाने और आधुनिक काल दोनों मे ही भीड़ों मे और इस तरह की सभाओं मे भी जैसी सीनेट और पार्लियामेंट हैं, बुद्धि की जो निम्न मात्रा दिखाई देती है उसकी बात बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कही गई है। "आप बात करके अशान्त भीड़ों से कुछ भी करवा सकते है। उनकी अनुभूतिया सब मिलाकर उदार और सही हो सकती है, बल्कि प्राय: होती है, लेकिन इनका उसमें कोई आधार नही होता, ये उसमे टिकती नही, आप अपनी इच्छानुसार उसको चिढ़ा सकते या हंसा सकते है; उसमे विचार अधिकाशत: संक्रामक बीमारी की तरह फैलते

---

* Sidis, "Psychology of Suggestion", पृ० ३०१, Ross "Social Psychology" पृ० ४५, पर उद्धृत।

है, कोई भी विचार जुकाम की तरह सड़ता है, और दौरा पडने पर एक छोटी-सी बात भी बहुत तूफान पैदा कर देती है; दौरे के खत्म हो जाने पर बडी मे बडी बात भी वह एक घटे के अन्दर भूल जाती है।"*

इस तथ्य को एक बडा रहस्य बनाया गया है, लेकिन इसकी व्याख्या बहुत आसानी से हो सकती है। सामूहिक विचार-विमर्श का अच्छा परिणाम केवल तभी हो सकता है जब दृष्टिकोणो का सच्चा आदान-प्रदान हो और जब हरेक सदस्य स्वय अपने निरीक्षण के आधार पर वाद-विवाद की समस्या पर थोडी रौशनी डाल सके। इससे एक सच्चा सहयोगपूर्ण सोच-विचार पैदा होता है जो ऐसे नतीजे पैदा कर सकता है जो एक आदमी के अकेले सोच-विचार के नतीजे की अपेक्षा बहुत श्रेष्ठ होते है। असंगठित भीड़ों मे विचारों का इस तरह का आदान-प्रदान असम्भव है। उनमें लोगों की अधिक संख्या को निष्क्रिय श्रोता बनना पडता है और इसका नतीजा यह होता है कि समूह के मनोविज्ञान की थोडी-सी जानकारी रखनेवाले थोड़े-से लोगों का प्रभाव प्राय: सबके ऊपर रहता है। वह नेता जो एक भीड़ को किसी बात का विश्वास दिलाना चाहता है, स्पष्टतया तर्कों का सहारा नहीं लेगा, क्योंकि थोड़े से तर्कयुक्त विचार के अभ्यस्त लोग ही उनको समझ सकते है, बल्कि वह सरल उपमाओं, आसान सामान्योक्तियों, संवेगों को उभारने इत्यादि का सहारा लेगा जिसका ज्यादा से ज्यादा लोगों के ऊपर असर होगा। यह स्पष्ट है कि जिन विचारों को भीड़ के सभी या

---

* Ruskin, "Sesame," ३९; Schiller के शब्दों से तुलना कीजिए, Jeder, siehst du ihn einzeln is leidlich klug und verständig, Sind sie *in corpore,* gleich wird dir ein Dummkopf heraus.

ज्यादा से ज्यादा लोग समझ सकते है वे निम्न स्तर के होंगे और इस वजह से असंगठित समूहों की सामूहिक विचारधारा निश्चय ही निम्न स्तर की होगी। ख़ास तौर से जब कोई भीड़ किसी सफल व्याख्याता के प्रभाव मे होती है, तब सामूहिक विचार प्रायः ग़ायब-सा हो जाता है। उस समय वार्तालाप में विचारों का जो आदान-प्रदान होता है वह असम्भव हो जाता है। "जैसे ही एक आदमी ऊंचाई मे खड़ा होकर बाकी लोगों को ख़ामोश कर देता है वैसे ही वार्तालाप समाप्त हो जाता है। मेरा विश्वास है कि वह कवि रोजर्स (Rogers) या जिसने मज़ाक़ में यह कहा था कि किसी सामूहिक भोज मे खानेवालों को सख्या म्यूज़ेज़ (Muses—यूनानी पुराण-साहित्य मे विद्या और कला की नौ देवियां) से कम और ग्रेसेज़ (Graces—सौन्दर्य की तीन देविया) से ज्यादा होनी चाहिए। जहा नौ से ज्यादा आदमी एक मेज के चारो ओर इकट्ठे हुए वहां भीड़ बनने का खतरा पैदा हो जाता है। और तीन या तीन से कम लोगों के होने से समूह का आनन्द नही मिलता।"*

भीड़ सामूहिक विचार नही कर सकतो। वह केवल आपम मे प्रतिस्पर्धा करनेवाले नेताओं की बात सुन सकती है और उनमे से एक का अनुमरण कर सकती है।

यह तो होता ही है कि भीड़ के **सभी** आदमियों पर केवल मामूलो दलोलों का ही असर हो सकता है, लेकिन साथ हो उनकी निर्देशनीयना भी बहुत बढ़ जाती है। जो दलीलें व्यक्ति के पास भीड का बल लेकर

---

* Sir Martin Conway, "The Crowd in Peace and War", पृ० २२।

पहुंचती हैं उनको तत्परता के साथ मान लिया जाता है, हालांकि उनको अकेले मे सुनकर शायद न माना जाता। निर्देश में महत्त्वपूर्ण बात यह होती है कि चेतना के केन्द्र में रहनेवाले विचार के अलावा अन्य विचारों का निरोध हो जाता है और कोई ऐसी संवेगात्मक या सहज-प्रवृत्ति सक्रिय हो जाती है जो उस विचार को चालक शक्ति प्रदान करती है। जैसा कि हम देख चुके हैं, भीड में होनेवाली बातों मे प्रायः उल्लेखनीय बाते है ध्यान का एक चीज पर स्थिर होना और सवेगों का उभरना। कुशल वक्ता इस बात को जानता है कि श्रोताओं के सवेगों को कैसे उभारा जाय। एक दफे जब सवेग उभर जाते है, तब उनसे सामंजस्य रखनेवाले निर्देशों का स्वागत होता है और अन्य निर्देशो का तिरस्कार, और इसका नतीजा यह होता है कि आलोचना करने की शक्तियों का व्यक्ति के व्यवहार के ऊपर सामान्यतया जो नियंत्रण होता है वह ग़ायब हो जाता है। कौन-सी विशेष सवेगात्मक और सहज-प्रवृत्तिया भीड़ में उभरेंगी, यह उस चीज पर निर्भर होता है जो आकर्षण का केन्द्र होती है ; लेकिन बहुत ज्यादा सम्भावना इस बात की है कि भीड़ों मे हमेशा सामाजिक सहज-प्रवृत्तियों के बढ जाने से उत्पन्न एक तरह का स्नायविक उल्लास मौजूद रहता है, यानी सुखद आवेश की एक अनुभूति मौजूद रहती है जो इस ज्ञान के कारण पैदा होती है कि आदमी को जो सवेग और विचार हो रहे है वे साथ ही लोगों की एक बडी तादाद को भी हो रहे है। यह उल्लास नेताओ और साधारण लोगो पर अलग-अलग तरह से असर करता है। नेता असाधारण रूप से आक्रामक हो सकता है और ऐसी-ऐसी बातें कह सकता है जिनको साधारण परिस्थितियो में कहने की वह कल्पना भी न करे ; साधारण लोग नेता के निर्देश को स्वीकार करने के लिये अधिक तत्पर होते हैं। इसके अलावा भीड़ों मे, जैसा कि

लु बा ने उल्लेख किया है, व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को भूल जाता है, इस वजह से कि उत्तरदायित्व बंट जाता है और इस वजह से भी कि भीड मे उसके काम छिप जाते है। अगर इन बातों के साथ उत्तेजनाओ का जल्दी-जल्दी दोहराया जाना तथा बडी भीडो मे निर्देश का जो गुरुत्व होता है वह जोड दिया जाय, तो बौद्धिक स्तर के नीचे गिरने की बात तुरन्त समझ मे आ जाती है। उत्तरदायित्व के अभाव और निर्देशनीयता की वृद्धि से भीडो की किसी चीज पर जल्दी विश्वास कर लेने की बात भी समझ मे आ जाती है। उनका किसी बात पर तुल जाना और उनकी असहनशीलता इस वजह से होती है कि भीडों मे व्यक्तियो के अन्दर सर्वशक्तिमत्ता का भाव आ जाता है और उनका विश्वास बहुत ज्यादा दृढ हो जाता है।

संवेगो की तीव्रता भीडो का एक अन्य पहलू है जिसका बहुत बखान हुआ है। कुछ यूथ मे रहनेवाले जानवरों मे भय और क्रोध बिजली की तरह फैलते है। यह निस्सन्देह इस वजह से होता है कि उनके जीवन की परिस्थितिया भिन्न होती है, वे एक-दूसरे की सहायता पर निर्भर होते है, और खतरे के किसी भी चिह्न के दिखाई देने पर तुरन्त मिल-जुलकर उसे दूर करने का उनके लिये बडा महत्त्व होता है। मनुष्यो की भीड मे, जैसा कि हम देख चुके है, यूथ-प्रवृत्ति (gregarious instinct) से मिलने-जुलनेवाली एक तरह की धुधली सी उल्लास की अनुभूति होती है जो व्यक्ति को उत्तेजनाओं के प्रति अधिक प्रतिक्रियाशील बना देती है। इसमे उत्तेजना के दोहराये जाने का इकट्ठा प्रभाव भी रहता है।

इसके अलावा लोग यह जानते हुए कि भीड़ में वे कुछ भी करें पहिचान मे नही आयेंगे, जानबूझकर अपने ऊपर और समयों की तरह

काबू नही रखते तथा अपनी अनुभूतियों के प्रकाशन को ढील दे देते है। यही वजह भीड के चिल्लाने, अगों को बहुत हिलाने-डुलाने, जोर-जोर से हसने, ताली बजाने इत्यादि की और पराकाष्ठा पर पहुच जाने की प्रवृत्ति की है। ये अतिरजित प्रतिक्रियाए पहिले ही से निर्देशग्रहणशील बने हुए व्यक्तियो के ऊपर असर डाले बगैर नही रहती और इस तरह से निर्देश की शक्ति के बढते रहने की प्रक्रिया चलती रहती है। व्यक्ति की दायित्वहीनता की विचित्र अनुभूति अज्ञातनामा होने की वजह से और भी बढ जाती है, लेकिन इसका कारण शायद सर्वशक्तिमान् होने का वह भ्रम भी है जो एक बडे सम्मेलन मे लोगो के हिस्सा लेने से पैदा होता है।

भीडो की अनैतिकता के बारे मे बहुत लिखा गया है, लेकिन जैसे दूसरी बातो मे वैसे ही इस बात मे भी समूहार्थक शब्दों के इस्तेमाल से बडी उलझन पैदा हुई है। भीड अपने आप मे न तो अच्छी होती है न बुरी, लेकिन वह उत्तेजना के अनुसार कभी अच्छी बन जाती है कभी बुरी। भीड हिंसक हो सकती है, लेकिन साथ ही उदार और सहानुभूति-शील भी हो सकती है। वक्ता मानव-स्वभाव के अच्छे पहलू को भी उभार सकता है और बुरे पहलू को भी तथा इकट्ठी होनेवाली निर्देश की शक्ति दोनो ही दिशाओं मे काम कर सकती है। हां, इतना अवश्य है कि भीड का कार्य स्वभावत: विवेकपूर्ण विचार-विमर्श के ऊपर आधारित नही हो सकता, और निर्देशनीयता के कारण वह बहुत जल्दी-जल्दी एक सीमा से दूसरी मे पहुचती रहती है। लेकिन यह कहने की कोई वजह नही है कि भीड़ मे व्यक्ति आदिम युग की एक कल्पित अनैतिक स्थिति मे वापस चले जाते है।

भीड़ के मनोविज्ञान की विशेषताओं को समझाने के लिये जो अन्य

व्याख्याएं पेश की गई है उनमें से कुछ का अब विवेचन किया जा सकता है। उनमें से कई ऐसी हैं जो लु बां के इस सिद्धान्त पर आधारित है कि भीड मे एक नई सत्ता या मन पैदा हो जाता है जो भीड़ के व्यक्तियों के मनों से भिन्न स्वभाव रखता है। कहा जाता है कि यही वजह है कि भीड में व्यक्ति वैसा बिल्कुल नहीं महसूस करते, सोचते और काम करते है जैसा वे अकेले रहने पर महसूस करते, सोचते और काम करते हैं। ऐसी नई सत्ता का कोई भी प्रमाण नहीं मिलता। हमें केवल इतना ही कह सकने का हक़ है कि जब व्यक्ति भीड़ में होते है, तब उनके ऊपर कुछ ऐसे प्रभाव पड़ते है जो उनके संवेगों और विचारों को भिन्न बना देते है। उदाहरण के लिये, वे ज्यादा निर्देशनीय हो जाते हैं, कम विचारशील हो जाते है, उनका आत्माविश्वास घट जाता है, उत्तरदायित्व में कमी हो जाती है। भीड़ों की पूर्णतया एकमत हो जाने की बात को भी बहुत बढ़ा चढ़ाकर दिखाया गया है। भीड़ मे व्यक्तियों की निर्देशनीयता मे बहुत भिन्नता होती है, और कुछ तो ऐसे भी होते है जो अपनी आलोचना की शक्तियों को क़ायम रखते हैं और यूथ के प्रभाव से बचे रहते है। इसके अलावा, निर्देशनीयता, जैसी कि आशा की जा सकती है, जो सहज-प्रवृत्तिया और सवेग जाग्रत होते हैं उनके स्वरूप के द्वारा सीमित होती है। अगर निर्देश ऐसा है कि अशान्त भीड़ के संवेगात्मक झुकाव से उसका कोई सामजस्य न हो तो उसका मजाक बन सकता है। एक नवीन मन, जिसको जल्दी विश्वास कर लेने, बगैर विचारे एकाएक काम कर बठने, समझ की कमी इत्यादि सब गुणो के लिये ज़िम्मेदार ठहराया जाता है, की कल्पना की कठिनाई से बचने का यह तरीका आसान लगता है।

एक दूसरी व्याख्या भी लू बां के सिद्धान्त पर ही आधारित है

और इसके अनुसार भीड़ में अचेतन गुण ऊपर आ जाते हैं अर्थात् आदमी सहज-प्रवृत्तियों यानी अचेतन के स्तर पर वापस चला जाता है। जैसा कि मैकडूगल ने सिद्ध कर दिया है, इसका कोई प्रमाण नही है—हां, कुछ थोड़े-से दृष्टान्तों में है जैसे कि पुनर्जीवन (revival) के। कुछ भी हो, बगैर किसी प्रमाण के सब तरह के उक्त गुणों का एक स्थायी अचेतन आत्मा में आरोप करना अज्ञान की शरण मे जाना है। एक तीसरी व्याख्या जिससे लु बां ने हमें परिचित कराया है यह कि भीड़ का एक तरह का चुम्बक का सा प्रभाव होता है जो भीड़ में मौजूद लोगों में एक ऐसी अवस्था पैदा करता है जो नीद मे चलनेवाले रोगी (somnambulist) या सम्मोहित व्यक्ति (hypnotized subject) की अवस्था जैसी होती है। यह निश्चय ही एक अत्युक्ति (exaggeration) है। सम्मोहित व्यक्ति और अशान्त भीड के कामों मे कुछ समानता होती ज़रूर है, लेकिन उनमें फ़र्क भी उतने ही उल्लेखनीय होते है। ख़ास तौर से नीद में चलनेवाला प्रायः जो कुछ उसने किया होश मे आने पर उसे भूल जाता है, लेकिन भीड़ के आदमी अपने कामों को बाद में भूलते नहीं। फिर, सम्मोहन के साधारण लक्षण, जैसे, सांस के परिवर्तन इत्यादि भीड़ में नही पाये जाते। इस सिद्धान्त में केवल एक ही बात सही है और वह यह कि भीड़ में व्यक्ति ज्यादा निर्देशनीय हो जाते है। लेकिन सच्ची बात यह है कि इनमे से किसी भी व्याख्या की ज़रूरत नहीं है। यह तथ्य कि अकेले होने की अपेक्षा भीड़ में व्यक्ति एक भिन्न तरीक़े से सोचते और व्यवहार करते है, व्यक्तियों की परिवेश के प्रति प्रतिक्रियाशीलता का एक विशेष दृष्टान्त है। दूसरों की मौजूदगी में सामाजिक सहज-प्रवृत्तिया तीव्र हो जाती है और इससे एक अस्पष्ट सा उल्लास पैदा होता है जो नेताओं को

नेतृत्व करने और "अपने ऊपर काबू न रखने" के लिये उकसाता है और दूसरों को उनका अनुसरण करने के लिये। यह उल्लास दोनों को ही ज्यादा निर्देशनीय बना देता है, नेता का अशान्त भीड़ की मनोदशा के प्रति और बाक़ी लोगों को नेता की मनोदशा के प्रति। निर्देशनीयता आकर्षण की वस्तुओं के अनुसार बदलती है। यह ज्ञान कि मेरे विचार और अनुभूतियों में कई लोग हिस्सा ले रहे हैं, सभी को प्रोत्साहन देता है। इस प्रकार निर्देश की शक्ति के बढ़ने की प्रक्रिया चालू रहती है जो विरोधी विचारो और सवेगों को रोकती है और केन्द्र मे रहनेवाले विचारो और सवेगों को चालक शक्ति देती है। इस उल्लास के साथ सर्वशक्तिमान् होने की अनुभूति भी रहती है और इसके फलस्वरूप व्यक्तिगत उत्तरदायित्व की बुद्धि नष्ट हो जाती है। इसमे ध्यान की एकाग्रता और चेतना का सकुचित होना भी रहता है और इनके फल-स्वरूप साधारण जीवन के नियत्रणकारी विचारो और आदर्शो का अभाव हो जाता है। जब इसके साथ यह तथ्य भी जोड़ दिया जाता है कि भीड़ का बौद्धिक स्तर केवल सब मे समान रूप से पाये जानेवाले गुणों की सक्रियता के कारण प्राय. निम्न होता है, तब अशान्त भीड और साधारण भीडो मे प्राय: जो बाते देखने मे आती है उनकी सन्तोषजनक व्याख्या हो जाती है।

१०

जनता और जनमत

जनता (public) को उन व्यक्तियों का एक असगठित और आकारहीन समुदाय कहा जा सकता है जो समान विचारों और इच्छाओ के द्वारा एक साथ बधे रहते है, लेकिन जो सख्या मे इतने अधिक होते है कि एक-दूसरे से व्यक्तिगत सम्बन्ध कायम नही कर सकते। जनता नीचे लिखी बातो मे भीड़ से भिन्न होती है:

१. जनता व्यक्तिगत शारीरिक सम्पर्क पर आधारित नही होती, बल्कि समाचार-पत्रो, पत्र-व्यवहार इत्यादि के द्वारा विचारो के आदान-प्रदान पर आधारित होनी है। इसलिए जनता मे अशान्त भीड का शोर गुल नही होता और इसका नतीजा यह होता है कि व्यक्तित्व ज्यादे आसानी से कायम रहता है। जनता मे सामाजिक अनुभूतियों का जोर, जो कि किसी हद तक शारीरिक उपस्थिति के कारण पैदा होता है, नही होता, और यहा तक जनता मे व्यक्ति कम निर्देशनीय होते है।

२. एक आदमी एक समय में केवल एक ही भीड़ मे रह सकता है, लेकिन वह एक समय में कई जनताओं में रह सकता है, बल्कि प्राय: रहता ही है। उदाहरण के लिये, एक आदमी कई समाचार-पत्रों का

पाठक हो सकता है। अलग-अलग जनताओं से मिलनेवाले निर्देश एक-दूसरे के प्रभाव को नष्ट कर सकते हैं या निर्णय का थोड़े समय के लिये रुकना और वाद-विवाद का आगे बढ़ना उनका परिणाम हो सकता है।

३. हालाकि अत्यधिक द्रुतगामी साधनो से समाचारों को तेजी से भेजा जा सकता है, फिर भी भीड़ो में उत्तेजन की समकालिकता की जो मात्रा पाई जाती है वह यहां नही होती, इससे निर्देशनीयता घट जाती है।

४. हालाकि जनता स्वयं असंगठित होती है, फिर भी वह संगठनों को पैदा करती है और ये सगठन अशान्त भीड़ की मनोवृत्ति के खिलाफ तरह-तरह के साधनो का विकास करते है जैसे, वाद-विवाद के नियम इत्यादि का।

"भीड के मनोविज्ञान" के आलोचको ने बहुत पहिले भीड़ और जनता के इन और इस तरह के अन्य अन्तरो पर बार-बार जोर दिया है, और यह दलील भी दी गई है कि इन अन्तरो की वजह से जनता के व्यक्ति इतने निर्देशनीय नही होते जितने भीड़ के लोग होते है। फिर भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कुछ दृष्टियों से जनता के निर्देश की ताकत भीड़ के निर्देश की अपेक्षा बहुत ही ज्यादा बढ़कर होती है। सबसे पहिली वजह यह है कि आधुनिक समाजो में जनता बहुत ही बडी और जटिल होती है और उसका गौरव एक भीड की तुलना मे उतना ही बड़ा होता है। ऐसे व्यक्ति बहुत कम होते हैं जो उस मत के असर से अपने को बचा सकते है जो सर्वत्र स्वीकार किया जाता है और फैला रहता है तथा जो एक विशाल जनता के बल को लेकर आता है। दूसरी वजह यह है कि आधुनिक समाजों में मत को जान-बूझ कर बनाने या बिगाड़नेवाले लोग होते है, ऐसे लोग जो निर्देश के

धीरे-धीरे इकट्ठे होकर एक शक्तिशाली प्रभाव बन जाने का फ़ायदा उठाते है, जिनका असर प्राय: भीड़ों में जो उत्तेजना की पुनरावृत्ति दिखाई देती है उसके असर की अपेक्षा कही ज्यादा शक्तिशाली और स्थायी होता है। ये लोग जानबूझकर और इरादे से सामूहिक और बार-बार दिये जानेवाले निर्देश की शक्ति का प्रयोग करते हैं और व्याख्यान, प्रचार, "तस्वीरों" तथा सबसे अधिक समाचार-पत्रों की मदद से स्वय भीड़ को माध्यम के रूप में इस्तेमाल करते है। सभी कालो मे जनता के ऊपर एक भारी पैमाने पर सामूहिक निर्देश का प्रयोग किया जाता है, हालाकि शायद यह तथ्य आपत्ति-काल मे ज्यादा स्पष्ट होता है, जब जबर्दस्त सहज और सवेगात्मक प्रवृत्तिया सक्रिय होती है, व्यक्तियों की विचार-शक्ति को घटा देती है, तथा उन सब व्यक्तियों को घटाकर एक ही स्तर पर ले आती है जिसमें व्यक्तियों के आपसी अन्तर और विशेषताए मिट जाती या विलीन हो जाती है। इसलिए, यद्यपि जनता की मनोवृत्ति, कम से कम साधारण समयों में, ज्यादा विवेकपूर्ण और कम जोशीली होती है, फिर भी इसमे अनेक बाते वैसी ही होती है जैसी भीड़ में।

आधुनिक समाज की एक खास विशेषता यह है कि उसकी जनताएं बहुत जटिल होती है, और जनमत (public opinion) के स्वभाव को सही तरीके से जानने के लिये उन जनताओं के पारस्परिक सम्बन्धो को और उनके उन संस्थाओं और सघों से सम्बन्धों को जिनको वे पैदा करती है, सही रूप से जानना जरूरी है। हम देख चुके है कि सम्प्रदाय को एक शरीर या मन समझने की धारणाए सम्प्रदाय की एकता को अतिरजित करती है। सम्प्रदाय में समूहों की श्रृंखला शामिल रहती है जो अशत: एक और अंशत: भिन्न होते हैं, और इसकी सबसे

अच्छी उपमा अगर दी जाय तो कहना चाहिए कि यह वृत्तो की एक शृंखला है जिनमे से कुछ एककेन्द्रीय (concentric) है ओर एक-दूसरे को काटते है। व्यक्ति इनमे से कई वृत्तों या समूहो मे एक साथ आ सकते है, बल्कि आते ही है और उनके इनसे जो सम्बन्ध होते है उनकी घनिष्ठता की मात्राए आपस मे बहुत भिन्न होती है। इसके अलावा समूह भी बिल्कुल स्थिर नही रहते, बल्कि निरन्तर गतिशील रहते है और उनका रूपान्तर होता रहता है। इनमे से हरेक समूह के अन्दर ढेर सारे विचार और भावनाए काम करती रहती है और ये विचार और भावनाए एक-दूसरे से आदान-प्रदान करने और एक-दूसरे पर प्रभाव डालते रहने की प्रक्रिया की उपज होते है। हरेक के अन्दर संघ यानी समान लक्ष्यों की पूर्ति के लिये बनाये गये सगठन और संस्थाएं यानी समूह के सदस्यों के बीच के सम्बन्धों के निश्चित या मान्यता-प्राप्त रूप, विकास करते है। इसके बावजूद समूह मे हमेशा बहुत कुछ ऐसा भी रहता है जो उसके सघो और सस्थाओ मे अभि-व्यक्ति नही पाता। किसी सामाजिक समूह के सदस्यो के बीच जो सम्बन्ध रहते है वे इतने अधिक और विविध होते है कि व्यवस्था के लगभग मशीन जैसे रूपो में उन सबको नही बाधा जा सकता। सघ और सस्थाएं इस प्रकार एक दृष्टि से जनता के काम करने के तरीक़े है और इनके पीछे हमेशा ढेर सारे "मुक्त" विचार रहते है जिनका प्रभाव सस्थाओं में होनेवाले परिवर्तनों मे दिखाई देता है और जो कभी-कभी आपत्तिकाल मे सीधे तरीके से प्रकट होते है, क्योकि जब जनता सगठन को पैदा नही कर सकती तब वह भीड़ को पैदा करती है। हरेक समूह मे विचारो, भावनाओ और इच्छाओं का अपना अलग ही झुण्ड काम करता है। इस वजह से कि व्यक्तियो का एक ही समय कई वृत्तो से

सम्बन्ध रहता है, अलग-अलग जनताओं में स्वाभाविक रूप से कई समान तत्व होते हैं। इस बात का और साथ ही इसका भी कि समूह निरन्तर गतिशील रहते है, यह असर होता है कि विचार आपस में मिलते और टकराते है और फलतः, कम से कम प्रगतिशील और लचीले ममाजो में, विचारों का एक वृत्त से दूसरे मे प्रवाह होता है। इस तरह से जनता जनताओं का समूह होती है, और जब हम किसी मत को जनमत (public opinion) कहते हैं तो हमारा मतलब यह होता है कि उस विषय पर छोटी-मोटी जनताओं मे जो अनेक अलग-अलग जनमत होते है उनमें वह विशेष जनमत सबसे प्रधान है।

इस प्रधानता का मतलब यह नही है कि वह सब लोगों को स्वीकृत है, और अगर सबकी स्वीकृति पर ही जोर दिया जाय तो उस हालत मे जनमत का दायरा बहुत ही संकुचित करना पड़ेगा। इतना निश्चित मालूम पड़ता है। हम जनता की बात तब तक बिल्कुल नही कर सकते, कम से कम जनमत के द्वारा हुकूमत चलाने के प्रसंग मे, जब तक इससे हमारा मतलब ऐसे व्यक्तियों के समुदाय से न हो जो समान विचारों और भावनाओं के द्वारा आपस मे बधे हों और जिनकी अपनी एकता को बनाये रखने और चालू रखने की कम से कम एक धुधली इच्छा हो। जिन समूहों मे वस्तुतः गहरा विभाजन होता है उनमें जनमत हो ही नही सकता। यह बात खुले वर्ग-सघर्ष के समय दिखाई देती हैं। उस समय बार-बार जनमत पैदा करने की कोशिश की जाती है और प्राय: इस तथ्य की उपेक्षा कर दो जाती है कि हालाकि सम्प्रदाय के जिन हिस्सो के खिलाफ जनमत पैदा करने की कोशिश की जाती है वे स्वयं विशाल अर्थमें जनता के ही हिस्मे है, फिर भी कमसे कम थोडे ममय के लिये उनकी अपनी अलग ही जनता होती है और अपनी अलग

ही रुचिया होती है। यहा संख्या का सवाल बहुत ज्यादा प्रासंगिक नहीं है; क्योंकि अल्पसंख्यक (minority) अपने आपको बहुसंख्यकों (majority) के मत को मानने के लिये तब तक बाध्य नही समझ सकते जब तक वे रुचियों की इतनी आधारभूत समानता को स्वीकार न करें जो अस्थायी अन्तरों को भुलाने के लिये काफी हो। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अगर जनता शब्द मे सबकी स्वीकृति शामिल नही है तो किसी मत के जनता का मत होने के लिये बहुसंख्यकों का उसे स्वीकार करना मात्र काफी नही है। जैसा कि लोवेल* (Lowell) ने कहा है, यह जरूरी है कि अल्पसख्यक बहुसख्यकों के मत को मानने की बाध्यता तभी महसूस कर सकते है जब उनकी रुचियों मे काफी साम्य हो, और इसका मतलब है सजातीयता (homogeneity) की एक निश्चित मात्रा तथा ऐसे अन्तरों का अभाव जिनके विरोध को दूर करना असम्भव हो। किसी मत के जनमत होने के लिये नीचे लिखी तीन शर्तें जरूरी लगती है। पहिली, उस मत का ऐसे समूह में व्यापक प्रचार होना चाहिए जिसे रुचियों की आधारभूत एकता की अनुभूति हो। दूसरी, उसे सहयोग की उपज, सम्प्रदाय के अनेक मतों के मेल-जोल का फल होना चाहिए। तीसरी, उसके व्यापक प्रचार का सबको ज्ञान होना चाहिए, यानी हरएक आदमी यह समझे कि वह सामान्य मत है (टार्ड के "Sense of Actuality" से मुकाबला कीजिये)। इस प्रकार जनमत से मतलब एक सम्प्रदाय मे काम करनेवाले उन विचारो और निर्णयो के ढेर से है जो थोड़े बहुत निश्चित और स्पष्ट है और कुछ स्थिरता रखते है तथा जिनको उनके माननेवाले लोग सामाजिक

---

* "Public Opinion and Popular Government".

समझते है, इस अर्थ में कि वे साथ-साथ काम करनेवाले और इस बात का ज्ञान रखनेवाले कि वे साथ-साथ काम कर रहे है, कई मनो की उपज है।

अब तक हमने "जनता" शब्द की व्याख्या की है। अब हम "मत" शब्द का अर्थ स्पष्ट करेंगे। टार्डे ने इच्छा और कृति को मन के अर्थ से बाहर रखा है, जबकि दूसरे, जैसे लोवेल, इनके अन्तर को बराबर कर देते हैं और जनता के मत को उससे अभिन्न कर देते है जिसे प्राय: सामान्य कृति कहा जाता है। जिन लोगों ने जनमत का अध्ययन किया है उन्होने खास तौर से राजनीति के क्षेत्र पर ध्यान दिया है और यहा समस्याओं की जटिलता की वजह से जनमत और सामान्य कृति को एक मानना आसान होता है। ये दोनों ही धारणाएं बहुत ही अनिश्चित है और उनके बीच विभाजन की रेखा खीचना निश्चय ही मुश्किल है। जब हम "जनमत के द्वारा हुकूमत" की बात करते है तब हमारा मतलब बहुत कुछ वही होता है जो यह कहने का है कि हुकूमत सामान्य कृति का प्रकाशन है। सामान्य कृति का हमने जो विवेचन किया था उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक कार्यों पर शासन करनेवाली शक्तिया, जहां तक आत्म-चेतना-युक्त ऐच्छिक कार्यो की उपज है वहां तक, सामान्य नहीं है, जबकि जो वाकई सामान्य है उन्हें सही अर्थ में ऐच्छिक कार्यों (कृति) की उपज नही कहा जा सकता। किसी समाज में जो चीज वाकई सामान्य होती है वह है सामाजिक ढांचे को कायम रखने की एक अस्पष्ट इच्छा, शायद किन्ही नये प्रस्तावों के लोगों के आम परम्परागत विचारों के साथ मेल रखने या बेमेल बैठने का ज्ञान; लेकिन इन अस्पष्ट मानसिक तत्वों को शायद ही कृति कहा जायगा। अगर हम उन विषयों की जांच करें जिनके बारे में जनमत सरकार के ऊपर प्रभाव

डालता है, तो हम देखेंगे कि वे उन गम्भीर और महत्त्वपूर्ण मसलों तक ही सीमित रहते है जो अच्छी तरह से स्थापित परम्पराओं या अन्य युगों पुरानी शक्तियों के कारण प्रतिक्रियाएं पैदा करते है, इस वजह से कि उनसे सामाजिक ढांचे की स्थिरता के ख़तरे में पड़ने की सम्भावना अस्पष्ट तरीके से महसूस होती है; और ये अर्ध-सहज-प्रतिक्रियाए सामान्य कृति मे जो कुछ सच्चाई है उसका भी सार-भाग है। तिस पर भी जन-मत का क्षेत्र सामान्य कृति के क्षेत्र से बड़ा है और शायद पहिली धारणा में सच्चाई अधिक है। इसकी वजह यह है कि कृति को अपने सही अर्थ में आत्म-चेतना-युक्त व्यक्तित्व के कार्यों तक ही सीमित रहना चाहिए, और यह सन्दिग्ध है कि गम्भीर से गम्भीर सामाजिक निर्णय तक आम जनता के इस तरह के चेतन कार्यो की उपज होते है। दूसरी ओर, मत शब्द और भी ज्यादा अस्पष्ट है और इसका इस्तेमाल उन छिपे हुए पूर्वाग्रहों, बंधी हुई आदतों और प्रथाओं, अस्पष्ट इच्छाओं और उलझे विचारो के समूह के लिये करना अनुचित नही है, जो समाज मे वस्तुत. काम करनेवाली मानसिक शक्तियां है। यह बात ध्यान देने के काबिल है कि कुछ लेखकों ने हमेशा सही मानी जानेवाली सामान्य कृति की धारणा को अस्वीकार करके उसकी जगह मे जनमत की धारणा को ला खड़ा किया है और जनमत को औसत आदमी के मत से, यहा तक कि सबसे उत्तम व्यक्ति जो मत बना सकते है उनसे भी श्रेष्ठ माना है। डा० मैकडूगल* ने ऐसा ही माना है। ऐसा लगता है कि मैकडूगल ने यह नही समझा है कि उसने जनमत के बारे मे जो दावा किया है वह बिल्कुल वही है जो रूसो और बोसान्क्वेट ने सामान्य कृति के बारे में किया है, और

* "The Group Mind" पृ० १९२।

जैसे मैकडूगल जनमत को सबसे अच्छी तरह समझनेवाला समाज के सबसे उत्तम मनों को मानता है वैसे ही रूसो सार्वजनिक कृति क्या मांग करती है, यह निर्धारित करने के लिये "होशियार विधान-निर्माताओं" की ज़रूरत बताता है। सच्ची बात यह है कि जनमत और सामान्य कृति दोनो ही की बुद्धिमानी और निर्भ्रान्तता को उनकी सच्ची प्रकृति की छानबीन किये बगैर पहिले से कल्पित कर लिया गया है। सामान्य कृतिके बारे में छानबीन से यह मालूम होता है कि जो सामान्य है वह कृति नही और जो कृति है वह सामान्य नही है। आम समाज के बारे मे हम अधिक से अधिक यह कह सकते है कि वह या तो थोडे से लोगों के निर्णयों को चुपचाप मान लेता है या केवल भावहीन और तटस्थ बना रहता है या असन्तोष के थोड़े-बहुत अस्पष्ट चिह्न प्रदर्शित करता है। निस्सन्देह हम एक दृष्टि से समाज की बढ़ती हुई नैतिक बुद्धि की बात कह सकते हैं, लेकिन यह साफ़-साफ समझ लेना चाहिए कि यह सबसे श्रेष्ठ व्यक्तियो के स्पष्ट नैतिक विचारों के मुकाबले मे बहुत कमजोर रहेगी और नैतिक कृति (moral will) तो निश्चय ही इसे नहीं कहा जा सकता। इसी तरह मत की जो इससे विशाल धारणा है उसके बारे मे भी हम कह सकते है कि यह (जनमत) समाज के अधिक सक्रिय सदस्यों की उत्तेजना के प्रति कम सक्रिय सदस्यो की प्रतिक्रियाओ से बनता है। लेकिन ये प्रतिक्रियाएं बहुत ही भिन्न-भिन्न स्वरूपवाली होती है। श्मौलर (Schmoller)* कहता है कि जनमत लाखों तारवाली एक वीणा की तरह है जिसको सभी दिशाओं से आनेवाली हवाएं छेड़ती है। इससे जो स्वर निकलते है वे हमेशा आपस में एकता नही रखते।

---

* "Grundriss" I, पृ० १४।

आपस में बहुत भिन्नता रखनेवाली स्वर-धाराएं एक-दूसरी को काटती हैं। जनमत निरन्तर बदलता रहता है, जिन चीजों को यह अपना विषय बनाता है उनकी दृष्टि से भी और जिन मानसिक तत्वों के द्वारा यह काम करता है उनकी दृष्टि से भी। अभी इसकी एक माग रहती है, अभी दूसरी हो जाती है। आज यह संवेगों को उभारता है, कल धैर्य के साथ विचार करने के लिये कहता है। इस तरह मत शब्द का चुनाव उचित ही है; क्योंकि चिन्तन के इतिहास मे मत (opinion) को हमेशा पर्याप्त ज्ञान (knowledge) से अलग माना गया है और इसकी विशेषता यह बतलाई गई है कि यह सुनी-सुनाई बातों, खाली गिनती पर आधारित और मोटे निरीक्षण से प्राप्त सामान्य कथनों और स्वीकृत परम्पराओं और पूर्वाग्रहों पर आधारित होता है। इस प्रकार मत को एक ओर तर्क या पर्याप्त ज्ञान मे और दूसरी ओर मात्र क्षणिक कल्पना से अलग किया जा सकता है। पर्याप्त ज्ञान वैज्ञानिक आधार पर स्थापित रहता है और सभी प्राप्त प्रमाणों का विश्लेषण करके तथा आवश्यक सम्बन्ध जोडते हुए आगे बढ़ता है। इसके विपरीत विभिन्न विषयों पर पर्याप्त मात्रा में जो अपेक्षाकृत स्थिर मत उपलब्ध होते है उनमें से अधिकाश को माननेवाले लोगों को प्रमाणों को जाचने का मौका नही मिला है और न वे लोग प्रमाणों का उम सतर्कता और सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण करने के योग्य ही है जो एक सच्चे वैज्ञानिक अनुमान के लिये जरूरी है। सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण जनना के निर्णयों तक में जो अबौद्धिक तत्व पाये जाते है उनके ऊपर बहुत पहिले से काफी ज़ोर दिया गया है और यहां उनका वर्णन दुबारा करने की कोई जरूरत नही है। दूसरी ओर मत बिल्कुल वही चीज़ नही है जो एक क्षणिक कल्पना या किसी उत्तेजना की सहज-प्रतिक्रिया होती है। उदाहरण के

लिये, यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि किसी आदमी के मन में "कैंसर को फांसी दो" इन शब्दों को किसी इश्तिहार में पढ़ने के बाद जिस किस्म की प्रतिक्रिया होती है उसे मत नही कहा जा सकता, हालांकि इसमें शक नहीं है कि मत में जितना शामिल होता है उसका अधिकांश इसी तरह संवेगों और सहज-प्रवृत्तियों को बार-बार उभारते रहने से पैदा होता है। दूसरे शब्दों में, मत किसी समूह या समाज में फैले हुए विचारों और विश्वासों के उस संग्रह का नाम है जिसके अन्दर कुछ स्थिरता होती है और जो क्षणिक प्रतिक्रियाओं की एक शृंखला मात्र नहीं होता, लेकिन फिर भी जो वैज्ञानिक स्वरूपवाली साफ-साफ सोची हुई आधार-भूमि पर स्थापित नही होता। जनता शब्द का अर्थ पहिले ही समझाया जा चुका है, यानी जनता लोगों का एक थोड़ा-बहुत असंगठित समूह है, हालांकि उसके अन्दर संगठन और संस्थाएं हो सकती है। ऐसे हरेक समूह में विचारों का एक ढेर होगा, जिनकी शुरुआत अधिक सक्रिय सदस्यों से हुई होगी, लेकिन बाद मे जिनमे दूसरे विचारों के सम्पर्क के कारण गहरा परिवर्तन हो गया होगा और अन्त में जिनकी ऐसी शक्ल हो गई होगी कि उनकी शुरुआत करनेवालों तक के द्वारा नही पहिचानी जा सकी होगी। इस तरह से जनमत एक सामाजिक उपज होता है, कई मनो की परस्पर-क्रिया से पैदा होता है। लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि इस संघर्ष के बाद जिन विचारों का उदय होता है वे हमेशा तर्क की दृष्टि से सर्वोत्तम नही होते। जनमत की तर्कहीनता कभी-कभी तो बड़ी आश्चर्यजनक होती है। कुछ विचारो के जम जाने और कुछ के उखड़ जाने का अन्तिम कारण प्रायः उन तत्वो मे जो बौद्धिक नियंत्रण के अन्दर नही होते, समय की उलझी हुई परिस्थितियों मे, शक्तिशाली संवेगों और सहज-प्रवृत्तियो के उभरने में मिलता है, लेकिन

जिन लोगो को ये प्रभावित करते है वे इनको थोडा या बिल्कुल भी नही समझते। जैसा कि बार-बार कहा गया है, विचारो का एक तरह से प्राकृतिक "चुनाव" होता है, लेकिन उनमे जो "योग्यतम" होते है वे तर्क नीति की दृष्टियो मे हमेशा सर्वोत्तम नही होते, बल्कि केवल समय की विशेष परिस्थितियो के सबसे ज्यादा अनुकूल होते है। प्रो० डाइसी (Dicey) का कहना है, "विश्वास मे परिवर्तन खास तौर से उन परिस्थितियो के होने से होता है जो दुनिया के ज्यादातर लोगो मे ऐसे सिद्धान्तो को सुनने और मानने का झुकाव पैदा करती है जिनको एक समय साधारण बुद्धि के लोगों ने वाहियात कह कर टाल दिया था या विरोधाभासपूर्ण समझ कर अविश्वास की दृष्टि से देखा था।"*

उन्होने कई आकर्षक दृष्टान्त दिये है। उदाहरण के लिए, १७८३—१८६१ के बीच सारे संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के धार्मिक विश्वास और राजनीतिक सस्थाए, गुलामी को छोडकर, वही थे, फिर भी उत्तर मे गुलामी को अनैतिक माना गया जबकि दक्षिण मे उसका समर्थन किया गया। रवैय्ये का यह फर्क केवल परिस्थितियों के फ़र्क के कारण हो सकता है। फिर, यह प्रसिद्ध ही है कि लड़ाई के जमाने मे जो शक्तिशाली आवेग और सवेग जोर पकड़ते है उनके प्रभाव मे आकर लोग ऐसे-ऐसे विचारो को तुरन्त स्वीकार कर लेंगे और उनमें सच्चे हृदय से विश्वास कर लेगे जिनके ऊपर अन्य समयों मे उनको सबसे ज्यादा सन्देह होगा। साधारण समय में भी जनता का विचार अचेतन "ग्रन्थियो" से उससे कही ज्यादा प्रभावित होता है जितना आम तौर पर माना जाता है।

इस प्रकार हमको जनमत के बुद्धिमत्तापूर्ण और निर्भ्रान्त होने की

---

* "Law and Opinion in England", Lecture II.

जो कहावत है उसके पक्ष में कोई प्रमाण नही मिलता, बल्कि जैसा हेगल ने माना है वैसो हो हम भो मान सकते है कि किसी चीज के महान् और विवेकपूर्ण होने की पहिली शर्त यह है कि वह जनमत के प्रभाव से मुक्त रहे। जिस तरीके से जनमत काम करता है उसकी वैज्ञानिक छानबीन से भी जनमत की उस श्रेष्ठता का समर्थन नही होता जो उसे "सामाजिक विवेक-बुद्धि" (social conscience) इत्यादि कहने से प्रकट होनी है। जनमत का कोप और कृपा दोनों ही समझ में न आनेवाले होते है और उनमें शायद ही कभी विवेक और बुद्धि होती हो। जहा जन-हित का काम करनेवाला, दुनिया मे क्रान्ति मचा देनेवाला आविष्कारक और महान् विचारक जनमत का समर्थन प्राप्त करके आदर पाते है, वही एक घुडसवार, घूसेबाज और सस्ते सामाजिक उपन्यास लिखनेवाला भी। इन मामलो मे जहा आदत और सहज-प्रवृत्ति की शक्ति इतनी प्रबल होती है कि जिन कामो के खिलाफ वह इतने जोर का दबाव डालती है उनके फैलने को बिल्कुल सम्भावना नही होती, वहा जनमत बहुत ही जल्दी और निश्चित रूप से प्रतिक्रिया करता है।* आपत्ति-काल में अनेक बार जनमत की नैतिक-कृति (moral will) का काम करने की नितान्त सामर्थ्यहीनता साफ-साफ प्रकट होती है। उस समय धैर्यपूर्ण निर्णय का स्थान सहज-प्रवृत्ति-जन्य कोप ले लेता है। ऐसे समयो मे जनता जिस एकता को प्रदर्शित करती है वह आपसी भेदो के सच्चे समझौते से दूर होने का फल नही है, बल्कि चेतना के सकुचित होने और फलस्वरूप बौद्धिक नियत्रण के नष्ट होने तथा जैविक और सामाजिक वशानुक्रम से पैदा होनेवाली प्रतिक्रिया

देखिए Ross, "Social Control", पृ० ९८।

के समरूप तरीकों की विजय का फल है। जनमत के मूल्य के बारे में जो वाद-विवाद हुए है उनमें हमेशा आत्यन्तिक बातें (extremes) को महत्त्व देने की उल्लेखनीय प्रवृत्ति दिखाई दी है। फ्लाउबर्ट (Flaubert) जनता को "अनैतिक जानवर" या हमेशा एक ऐसा शिशु बनी रहनेवाली कहता है जो सामाजिक तत्वों की क्रमिक श्रृंखला मे हमेशा आखिरी बनी रहती है। हाल में कुछ लेखको ने जनता के मत को मूल्यहीन कहकर टाल दिया है, इस आधार पर कि वह अस्थिर होता है और अत्यधिक निर्देशनीयता की उपज होता है। दूसरी ओर प्रायः यह भी दावा किया गया है कि जनमत श्रेष्ठ से श्रेष्ठ आदमी के मत से अधिक दूर दर्शितापूर्ण और विश्वसनीय होता है। आम तौर पर कहा जाता है कि गम्भीर मसलों के ऊपर जनता का फैसला हमेशा सही होता है और कि कला और साहित्य के मामलों मे "समय" ही बता सकता है कि ऐसा होना है या नही। बोसान्क्वेट साफ-साफ़ कहता है कि "जनमत में हमेशा आन्तरिक विरोध होता है। सार्वजनिक होने की दृष्टि से वह निर्दोष और सही होता है और उसमें राज्य की नैतिक भावना रहती है। व्यक्तियों के द्वारा अभिव्यक्त होने की दृष्टि से वह झूठ और अभिमान से भरा रहता है। बुरी बात ही ऐसी होती है जो विलक्षण होनी है और लोग जिस पर घमंड करते है, विवेकपूर्ण बात स्वभाव मे सार्वत्रिक (universal) होती है हालाकि उसका सार्वजनिक होना जरूरी नही है।" इन परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणो का विचार करते हुए इस बात को याद रखना चाहिए कि जनता को अनैतिक और बेवकूफ कहना उतना ही भ्रामक और शरारत से भरा है जितना उसे हमेशा सही रास्ते पर चलनेवाली और आत्मा की सर्वोच्च अभिव्यक्ति कहना। दोनों ही कथनों में यह मान्यता समान रूप से छिपी

हुई है कि आम जनता के अन्दर एकता रहती है हालांकि यह काल्पनिक है। दूसरी बात यह है कि जनमत की बुद्धिमानी और अच्छाई, बेवकूफी और दुष्टता के बारे मे कुछ भी कहना बिल्कुल व्यर्थ है। ऐसा कहने से पहिले हमे जनता की क़िस्म का सामूहिक विचार के लिये जो संगठन रहता है उसका, और जिन विषयों पर जनता के निर्णय की जरूरत है उनके प्रकारो का विचार कर लेना चाहिए। जीव-शास्त्रियों के एक समुदाय मे विकासवाद के सिद्धान्त के मुख्य नियमों के बारे मे जो जनमत होता है वह अत्यधिक बुद्धिमत्तापूर्ण हो सकता है, लेकिन खान में काम करनेवालों के हड़ताल करने के अधिकार के बारे में उनका मत बिल्कुल पक्षपातपूर्ण और कच्चा हो सकता है। इसलिए जनमत के मूल्य का विचार करने में हमको आधुनिक समाजों की जनताओ की जटिलता और उनके पारस्परिक सम्बन्धो तथा उनको जिन समस्याओं से मुक़ाबला करना पड़ता है उनकी जटिलता, इन दोनों बातों को याद रखना होगा; और इन दोनों का विचार करने मे जनताओ का विश्लेषण और वर्गीकरण, उनकी विशेष समस्याओं का पूरा-पूरा वर्णन तथा सामूहिक विचार के लिये और अन्य जनताओ के साथ विचारों का आदान-प्रदान करने के लिये उनके पास जो साधन है उनका भी पूरा-पूरा वर्णन शामिल है। इसी बीच इस तथ्य की ओर ध्यान खींचा जा सकता है कि सरकार के लिये जनमत का मूल्य उसकी बुद्धिमानी के कारण नही बल्कि बिल्कुल भिन्न बातों की वजह से है। सबसे पहिली बात यह है कि जनमत का महत्त्व मत होने मे नही बल्कि जनता का होने में है। जनता की स्वीकृति और अस्वीकृति एक जबर्दस्त ताक़त है, और हालांकि वह हमेशा बुद्धिमत्तापूर्ण नही होती फिर भी जो लोग समाज में प्रभाव रखते हैं उनके इरादों पर लगाम लगाने का काम करती है।

इस दृष्टि से जनमत का मूल्य नई बात पैदा करने मे नही है बल्कि उसकी नियंत्रण करने की शक्ति में है। यह भी सही है कि इस प्रकार इससे जो फायदे होते है उनके साथ नुकसान भी है। नये विचारों को जनता की तटस्थता, उदासीनता और कोपपूर्ण विरोध के ख़िलाफ़ जो तीखी लडाई लडनी पड़ी है उनसे इतिहास भरा हुआ है, लेकिन फिर भी जनमत से जो नियत्रण होता है उसे नही भुलाया जा सकता और हमे तरह-तरह से यह कोशिश करनी चाहिए कि जनमत बुद्धिमत्तापूर्ण बने और उस पर तर्कों का असर हो सके।

दूसरी बात यह है कि जनमत का सरकार के लिये महत्त्व इस आसान वजह से है कि यह एक बहुत बड़े आकार का जीवित तथ्य होता है और कि इसकी उपेक्षा कर देने से निश्चय ही एक बड़ी दुर्घटना होने की आशका रहती है। शासन सम्मति से होना चाहिए, और जैसा कि अरस्तू ने बहुत पहिले कहा था, जनता की एक भारी सख्या को शासन मे हिस्सा लेने से अलग रखना बहुत ही ज्यादे खतरनाक होता है, क्योकि इसका मतलब होगा राज्य में हमेशा असन्तुष्ट रहनेवाले और सरकार का विरोध करनेवाले तत्वों की हमेशा मौजूदगी। निश्चय ही इस दृष्टिकोण से जनमत के द्वारा शासन का मतलब आजकल के राज्यों मे यह नही है कि हरेक नागरिक सरकार के निर्णयों में सीधा हिस्सा लेगा, बल्कि केवल यह है कि शासनकर्ता के वैध होने के बारे मे आम राय है, जैसे कि यह आम राय कि बहुसख्यकों का मत माना जायगा। इतना और जोड देना चाहिए कि, जैसे लोवेल ने कहा है, जनमत के द्वारा शासन के लिये जनमत को ऐसा होना चाहिए कि चाहे अल्प-सख्यक उसे न माने फिर भी वे डर से नही बल्कि तर्क से उसे मानने के लिये बाध्य हो जायं, और अगर पूर्ण प्रजानंत्र है तो अल्पसंख्यको का

बगैर शिकायत किये झुक जाना चाहिए। आजकल सम्प्रदायों मे यह बादवाली शर्त कहां तक पूरी होती है, यह निश्चय करना मुश्किल है। वोट देनेवालों में से बहुसंख्यकों के लिये सरकार के सामने झुकने का मतलब इससे ज्यादे नही है कि स्वतत्र चुनाव का ज्यादा प्रदर्शन न करके गूगे बनकर उसकी बात मान ली जाय, लेकिन साथ ही ऐसे अल्पसख्यकों का भी निश्चित रूप से विकास हो रहा है जो अगर झुकते है तो बगैर शिकायत किये बिल्कुल नही।

तीसरी बात वह है जो इस प्रसग मे अरस्तू ने कही थी, अरस्तू ने यह दिखाया है कि यद्यपि ज्ञान के मामले में अज्ञ बहुसख्यको का थोड़े से विशेषज्ञों से मुकाबला बहुत कमजोर होता है, फिर भी प्रायः किसी चीज़ का सबसे अच्छा निर्णायक वह विशेषज्ञ नही होता जिसने उसे बनाया है, बल्कि वे लोग होते है जिनको उस चीज़ का इस्तेमाल करना है। इस प्रकार मेहमान किसी दावत के बारे मे पकानेवाले की अपेक्षा अच्छा निर्णय दे सकता है, मकान-मालिक मकान के बारे मे बनानेवाले मिस्त्री के बजाय अच्छा निर्णय दे सकता है। इसी तरह यह भी माना जा सकता है कि जिस जनता के ऊपर शासन हो रहा है वह इस बात को सबसे अच्छी तरह जान सकती है कि सरकार की कमजोरी कहा पर है।

चौथी बात, जनमत के द्वारा शासन का शायद सबसे बड़ा औचित्य उसके शैक्षणिक (educative) मूल्य से है। जनता सोचना केवल तभी सीख सकती है जब वह सोचे, बिल्कुल उसी तरह जैसे कि वह अपने ऊपर शासन करना तभी सीख सकती है जब वह अपने ऊपर शासन करे। प्रजातत्रीय शासन का सच्चा समर्थन हमेशा इस बात से हुआ है और आजकल इसका महत्त्व दिन-प्रति-दिन स्पष्ट होता जा रहा है। जनमत के द्वारा शासन के जो नुकसान है वे बहुत काफी इस कारण

से है कि जानबूझकर उसे बिगाड़नेवाले कुछ लोग मौजूद रहते है और इस कारण मे भी कि लोगों की ज्यादा संख्या या तो ऐसी है जिसमें विशाल मन का अभाव है जिसके कारण वह विशाल और कठिन समस्याओ को न समझ सकती है न उनमे रुचि ले सकती है, या ऐसी है कि वह व्यक्तिगत मामलो मे ही इतनी उलझी हुई है कि अपनी सार्वजनिक भावना को प्रदर्शित करने का अधिक मौक़ा नही पा सकती। इनमे से पहिले कारण का निराकरण स्वतत्र और प्रतिबन्ध-मुक्त समाचार-पत्रो से तथा आम तौर पर अच्छी शिक्षा से हो सकता है। दूसरा कारण सामाजिक सगठन की ज्यादा मुश्किल समस्याओं को पैदा करता है ओर इसके साथ कठिनाई का एक तीसरा कारण भी जुडा हुआ है और वह है उन समस्याओ की अत्यधिक जटिलता जिनसे आजकल समाज का मुकाबला होता है। अब इस बात को धीरे-धीरे समझा जाने लगा है कि जनमत को वाकई एक सहायक शक्ति बनाने के लिये काफ़ी विकेन्द्रीकरण (decentralization) और शक्ति के विभाजन की जरूरत है। खास तौर से सघो की कार्य के आधार पर एक व्यवस्था करने से उनके मसले बहुत आसान बन जायेंगे और हरेक सघ के अन्दर कम से कम उसकी अपनी ही विशिष्ट समस्याओ के बारे मे बुद्धिमत्तापूर्ण जनमत का पैदा होना सम्भव हो जायेगा। लेकिन इन सघो को आत्म-केन्द्रित और दूसरो का ख्याल न करनेवाले बन जाने से रोकने के लिये बहुत सतर्कता रखनी होगी और एक समूह से दूसरे तक अनुभूति और मत को पहुंचाने के लिये साधन प्राप्त करने के लिये भी सावधान रहना पड़ेगा। जिन सम्प्रदायों मे निश्चित परते जम गई है उनमें विभिन्न समूहों का पारस्परिक आदान-प्रदान आसान नही है। इसका नतीजा यह है कि सडान्ध पैदा हो जाती है और हरेक समूह आम जनता की मागो को

अनसुनी कर देता है। इसलिए अगर कार्यों के आधार पर एक संगठन अपना लिया जाय तो यह हमेशा से ज्यादा आवश्यक हो जायगा कि निर्बन्ध और निर्भीक आलोचना को प्रोत्साहन दिया जाय, आपसी आदान-प्रदान के साधन विकसित किये जायं और सबसे ऊपर एक ऐसा संगठन क़ायम करके परतों का जमना रोका जाय जिसमें अलग-अलग काम करनेवाले सगठनों के सदस्य शामिल हों और जो उनके समान हितों का प्रतिनिधित्व करे, इसका फल यह होगा कि हरेक समूह के अन्दर मत शिक्षित होगा, जहां तक कि उस समूह के अपने ही मामलों का सम्बन्ध है, और हरेक समूह में सामान्य संगठन के सदस्यों के मौजूद रहने की वजह से विचार एक समूह से दूसरे समूह में पहुंचेंगे और इससे सामान्य मामलों पर भी बुद्धिमत्तापूर्ण जनमत का विकास सम्भव हो सकेगा। किसी हद तक यही वह संगठन है जिसकी कल्पना "गिल्ड सोशलिस्टों" (guild socialists) ने की है, मगर इन लोगों का सिद्धान्त चाहे माना जाय चाहे न माना जाय, पार्लियामेन्ट इत्यादि का जिन समस्याओं से पाला पड़ता है उनकी जटिलता और सख्या को घटाने के लिये कार्यों के विभाजन की आवश्यकता अब आम तौर पर मान ली गई है।

११

संगठन और प्रजातंत्र का मनोविज्ञान

सम्प्रदाय के अन्दर व्यक्तियों के वीच जो सम्बन्ध होते है उनकी विविधता और जटिलता अनन्त होती है। उनमें से कई तो इस कदर सूक्ष्मता और कोमलता के साथ आपस मे गुथे होते है कि उनको साफ़-साफ़ शब्दो में कहना या संगठन मे बाधना असम्भव होता है, किन्तु उनकी एक बडी तादाद अपने अस्थायी अस्तित्व के लिये निश्चित सगठन पर निर्भर रहती है। सगठन मे मुख्य बात होती है व्यक्तियो की क्रियाओ का समन्वय और आपसी समायोजन, उन व्यक्तियों की जिन्होने किसी समान लक्ष्य को पाने की दृष्टि से अपना एक संघ बनाया है। इसलिए सगठनो को लक्ष्यो या उद्देश्यो से ही समझा जा सकता है जिनके लिए सघों का अस्तित्व होता है और जिनको पाने के लिये वे सघ जानकर या अनजान मे कोशिश करते रहते है। इस बात को साफ-साफ समझ लेना चाहिए कि यद्यपि सघ समान स्वार्थो के ऊपर आधारित होते है, फिर भी उनके सभी सदस्यो को इन स्वार्थों की हमेशा साफ-साफ जानकारी नही होती और न उनको पाने की पहिले से उनके अन्दर इच्छा रहती है। लोग कुछ सघो के जन्म से ही सदस्य होते है; कुछ सघों मे उनका प्रवेश सामूहिक निर्देश (mass suggestion) के या किसी

वक्ता के गौरव के कारण होता है। बहुत से संघ ऐसे होते है कि जिनके उद्देश्यों के बारे मे किसी भी सदस्य ने कभी साफ़-साफ़ नही सोचा, जिनके अन्दर परस्पर विरोधी बातें रहती है, और जो चेतन इच्छा के उदाहरण होने के बजाय प्रयास और भूल के प्रयोगों की तरह होते है। इनके अलावा कुछ अविकसित सघ सहज-प्रवृत्तियो के आधार पर खड़े रहते है अर्थात् उनके सदस्यो का एक-दूसरे पर आश्रित रहना और आपस मे सहयोग करना सामाजिक सहज-प्रवृत्तियों के द्वारा सम्भव हो पाता है। जैसे-जैसे बुद्धि का विकास होता है वैसे-वैसे इन सघो के उद्देश्य समझ में आते जाते है और उनको पूरा करने के लिये जान-बूझ कर कोशिश की जाती है। सभी सघों में पारस्परिक निर्भरता का कारण यह तथ्य होता है कि उनके सभी सदस्य एक ही लक्ष्य को पाने की कोशिश करते है, लेकिन शुरू की अवस्थाओ मे लक्ष्य का साफ ज्ञान नही होता और सदस्यो के कार्य सोद्देश्य होते हुए भी इरादे से किये जानेवाले नही होते, जबकि ऊची अवस्थाओ मे लक्ष्यों या उद्देश्यों की सभी या बहुसख्यक सदस्यों को जानकारी हो जाती है।

सहज-प्रवृत्तियो का आधार सघो के उन्नत रूपों मे भी बना रहता है, मगर अनुभव की वृद्धि और परम्परा के बनने से उसका आमूल रूपान्तर हो जाता है। नेतृत्व करने और नेता के बताये हुए रास्ते पर चलने की सहज-प्रवृत्तिया, समूहमे रहने इत्यादि की सहज-प्रवृत्तिया और सामाजिक आवेग आम तौर पर सामाजिक संगठन मे मदद पहुचाते है और विभिन्न सामाजिक समूहों को अपना विषय बनानेवाली शक्तिशाली भावनाओ के केन्द्र बन जाते है। पहिले प्रयास और भूल के द्वारा और बाद मे स्पष्ट विचार के द्वारा सदस्यों के बीच सम्बन्ध के निश्चित रूप स्थापित हो जाते है जिनसे श्रम का विभाजन और

समन्वय प्राप्त होता है, और इन रूपों को बाद में सामाजिक सम्मान और अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार नियमों और संस्थाओं की उत्पत्ति हो जाती है जो संघ के अन्दर व्यक्तियों के रस्मी सम्बन्धों को प्रकट करते है, तथा संघ की अपने को जीवित और क़ायम रखने की कोशिश के और सभी सदस्यों के सामंजस्यपूर्ण सहयोग के लिये साधन प्राप्त करने के परिणाम होते है। यह मानना होगा कि सामंजस्य और एकता के लिये यह कोशिश प्रायः बहुत कमजोर होती है और बहुधा इसकी ख़ातिर कई सदस्यों की व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा को दबाना पड़ता है। दूसरे शब्दों मे, जिस एकता के लिये कोशिश की जाती है वह एक समष्टि की एकता होने के बजाय एक ऐसी एकता होती है जिसमें कुछ लोगों को अधीनस्थ होना पड़ता है और अन्तरों को मिटा दिया जाता है। इसके अलावा केवल विकास की सबसे बाद की अवस्थाओं में ही उन उद्देश्यों को सोच कर निर्धारित करने की कोशिश की जाती है जिनकी ख़ातिर सामाजिक संगठन का अस्तित्व होता है, और उस वक्त भी इसमें सन्देह रहता है कि इस तरह के सोच-विचार का कितना प्रभाव सच्चा और सही रास्ते पर चलानेवाला होता है, और कि कम से कम बड़े-बड़े जटिल समाजों में हम प्रयास और भूल की अवस्था को पार कर चुके है या नहीं।

ऐसे सभी संगठन जो कुछ स्थायी बन गये है, आदत डालने और निर्देश की प्रक्रियाओं का विभिन्न मात्राओं में इस्तेमाल करते हैं, जो प्रक्रियाएं कि सामूहिक इरादे के लिये न भी हो सकें पर सामूहिक कार्य करवाने के लिये जबर्दस्त साधन होती हैं। यह तथ्य इस तरह के संगठनों में ज्यादा स्पष्ट हो जाता है जैसा कि फ़ौज है, जिसमें ड्रिल इत्यादि करवाने का उद्देश्य आज्ञा का तुरन्त बग़ैर सोच-विचार किये

पालन करने की आदत डालना और हर एक सिपाही के अन्दर अफसर के प्रभाव के प्रति निर्देशनीयता और प्रतिक्रियाशीलता को बढ़ाना होता है। मगर आदत और निर्देश अधिक जटिल समाजों में भी जितना आम तौर पर माना जाता है उससे कही ज्यादा काम करते है। हमारी तमाम शिक्षा-प्रणाली का प्रयोजन अनुभूति, विचार और कार्य की कुछ आदतों को डालना है। परम्परा गुजरी पुश्तों की प्रथाओं या आदतों को हम तक पहुंचाती है उनको बहुत बड़ा गौरव प्रदान करती है। इस-लिए सामाजिक संगठन में आदत प्रथा के क़ायम रहने का एक मुख्य कारण है और फलस्वरूप पुराने को सुरक्षित रखनेवाली एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण शक्ति है। इस प्रसंग में ही कभी-कभी "सामाजिक आदतों" की बात कही जाती है। इससे समाज मे क़ायम रहनेवाली क्रिया के उन रूपों की ओर संकेत किया जाता है जिनको व्यक्ति मशीन की तरह यानी कम से कम जानकारी के साथ, शुरू में दूसरों से प्रेरणा पाकर बार-बार दोहराने के फलस्वरूप करने लगते है। इस तरह की सामाजिक आदतें बहुत ही महत्त्व रखती हैं, इस वजह से कि व्यवहार के जिन तरीकों को जाति के अनुभव ने उपयोगी सिद्ध कर दिया है उनको सुरक्षित रखने में ये आदतें मदद करती हैं, और इस वजह से भी कि सभी आदतो की तरह ये आदतें भी कार्य को सरल और सुविधाजनक बना देती है, थकान को कम कर देती हैं और प्रयत्न की फ़ुज़ूलखर्ची को बचा देती हैं और इस तरह से हमारी ऊंची शक्तियों को उन ऊंची प्रक्रियाओं के लिये मुक्त छोड़ देती है जिनके लिये अधिक मात्रा में ध्यान देने की ज़रूरत होती है। इस प्रकार आदत सतर्कता और प्रतिक्रियाशीलता की अनिवार्य रूप से दुश्मन नहीं है अर्थात् सिद्धान्ततः उसका ऐसा होना ज़रूरी नहीं है। फिर भी व्यवहारतः यह कई ऐसी

संस्थाओं और विचार की प्रणालियो को जीवित रखने में मदद देती है जो बहुत पहिले अपना सच्चा अर्थ और उपयोग खो चुकी है।

निर्देश की प्रक्रिया का भी "महान् समाज" मे निरन्तर इस्तेमाल हो रहा है और यह इस्तेमाल बढता ही जा रहा है। विज्ञापन (advertisement) और प्रचार (propaganda) आम तौर पर जानबूझ कर शक्तिशाली संवेगों और सहज-प्रवृत्तियो को भडकाते है जिससे विरोधी विचार निरुद्ध हो जाते है और फलतः आलोचना की शक्तिया घटकर निम्न स्तर पर पहुंच जाती है। इसके अलावा बार-बार दोहराये जाने के कारण उनका प्रभाव इकट्ठा होते-होते बहुत बढ जाता है जो जनता के मतो और भावनाओ को बदल देता है और लोगो के अन्दर यह भ्रान्ति पैदा कर देता है—यह शायद ज्यादा खतरनाक है—कि वे बने-बनाये मत नही अपना रहे है बल्कि वास्तव में स्वय सोच-विचार करके उन पर पहुँच रहे है! समूह के निर्माण मे और आम तौर पर सामाजिक सगठन मे एक और महत्त्वपूर्ण तत्व है भावनाओ का विकास, जिनके विषय या केन्द्र समूह या समाज के नेता और सम्पूर्ण समूह या समाज भी होते है। खास तौर से "दल की भावना" (esprit de corps) का ज्यादा महत्त्व है। बहुत समय का साथ और भाई-चारा, समान खतरो और कठिनाइयो मे हिस्सा लेना, समान परम्परा और व्यवहार के समान रूपो का विकास, ये सब बाते मिल-जुल कर सघ या समूह को सवेगों की एक बड़ी सख्या का केन्द्र और वफादारी की भावना का विषय बना देती है, और इसका नतीजा यह होता है कि व्यक्ति संघ के सम्मान और उच्चता के बारे में सोचते हुए एक निश्चित मात्रा में संवेग की गर्मी महसूस करने लगते है और सघ से अपना तादात्म्य कर लेते है। जहां तक मै जानता हू इस और इसकी

तरह की भावनाओं के विकास के इतिहास का विस्तार में अध्ययन नहीं हो पाया है, लेकिन इसमें कोई सन्देह नही हो सकता कि समूह-मनोविज्ञान के मूल मे ये भावानाएं ज़रूर रहती है।

नेतृत्व का और नेताओं तथा आम लोगों के मानसिक सम्बन्ध का मनोविज्ञान भी बहुत उपेक्षित रहा है और सिर्फ अभी वैज्ञानिक खोजियों ने इस पर ध्यान देना शुरू किया है। ख़ास तौर से अधिकार या प्रभुत्व (authority) के मानसिक आधार के सारे सवाल का जितना अध्ययन हुआ है उससे ज्यादा विस्तार में अध्ययन ज़रूरी है। सम्भावना यह है कि मनोविश्लेषण-विज्ञान सामाजिक मनोविज्ञान की इसकी जैसी समस्याओं पर महत्त्वपूर्ण रोशनी डालेगा।

सर मार्टिन कन्वे ने अपनी एक हाल की किताब में नेताओं का एक अच्छा वर्गीकरण दिया है। उन्होंने तीन प्रकार के नेताओ मे अन्तर किया है और उनको भीड को मजबूर करनेवाले (crowd compellers), भीड़ के व्याख्याकार (crowd exponents) और भीड के प्रतिनिधि (crowd representatives) कहा है। पहिले वर्ग मे सिकन्दर और नेपोलियन की तरह के लोग आते है, यानी ऐसे लोग जो एक महान् विचार सोच सकते है, एक काफी बड़ी भीड़ के मन को इस तरह बदल सकते है कि वह उस विचार को मूर्त्त रूप देने के लिये तैयार हो जाय, और भीड़ को उसके अनुसार काम करने के लिये बाध्य कर सकते है, ऐसे लोग जो अपने पीछे चलनेवाले लोगों के ऊपर अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ सकते है। नेताओं के दूसरे वर्ग के लोग अर्थात् भीड़ के व्याख्याकार विचित्र सहानुभूतिपूर्ण सूझ के और सवेदनशील स्वभाव के लोग होते है, जो वैसा ही महसूस करने की योग्यता रखते है जैसा भीड़ महसूस कर रही है या करनेवाली है, जो

भीड़ के संवेग को साफ़-साफ़ और जोरदार अभिव्यक्ति प्रदान कर सकते है, जो समुदाय की अस्पष्ट और धुंधली अनुभूति, या विचार को पूरी तरह स्पष्ट कर सकते है। सर मार्टिन कन्वे ने इसके दृष्टान्त के रूप में बेगहॉट के ग्लैडस्टोन (Gladstone) के वर्णन को पेश किया है: "कोई भी ग्लैडस्टोन के मुकाबले में ज्यादा शीघ्रता और ज्यादा आसानी के साथ अपने श्रोताओं की मनोदशा को आधा रास्ता बताने वाला और आधा उसका अनुसरण करनेवाला नहीं है। उसके तरीके में थोड़ी-सी खिलवाड़ शामिल रहती है, जबकि उसके प्रिय विषय शुष्क होते है और उसका स्वभाव बहुत ही गम्भीर है। वह अपने आधार-वाक्यों (premises) को अपने श्रोताओं से भाप की तरह लेता है और अपने निष्कर्षों को उनके ऊपर बाढ़ की तरह बरसाता है। वह श्रोताओं के एक समूह से जो आधार-वाक्य लेगा, दूसरे समूह मे उनसे बिल्कुल भिन्न ग्रहण करेगा"। सर मार्टिन कन्वे ने स्वयं लॉयड जॉर्ज (Lloyd George) का उदाहरण दिया है। "वह जनता की प्रवृत्तियों का दिखाई और सुनाई देनेवाला रूप है। जैसे एक बैरोमीटर हवा के दबाव के प्रति बारीकी से प्रतिक्रिया करता है, वैसे ही उसके सवेग भीड़ के संवेगों के प्रति बारीकी से प्रतिक्रिया करते है। उसने कभी भी अपने व्यक्तिगत मन या स्वतंत्र विचार का चिह्न तक प्रदर्शित नही किया। उसने राजनीतिक विचारों के भण्डार मे कोई वृद्धि नही की, लेकिन जिस भीड़ के द्वारा वह काम करता है और जिससे वह अपने सवेग और अपनी शक्ति खीचता है उसके विचारों को उसने अपनी आवाज़ से पूरी-पूरी अभिव्यक्ति प्रदान की है।"*

---

* "The Crowd in Peace and War", पृ० १०७।

तीसरे वर्ग में भीड़ के प्रतिनिधि आते है जो भीड़ के जाने हुए और स्थापित मत को ही केवल प्रकट करते है, और जो वैधानिक राजाओं (constitutional monarch) की तरह ऐसे प्रतिबन्धों से घिरे रहते हैं कि अगर उनके कोई अपने स्वतंत्र मत हों तो उनको प्रकट नहीं कर सकते। नेतृत्व किस तरह काम करता है, इस बारे में तथा विधान (constitution), पार्लियामेन्ट, राजनीतिक गुट, समाचार-पत्र इत्यादि के काम करने के ढंग के बारे में विशाल साहित्य मौजूद है। मगर यह नहीं कहा जा सकता कि इन विषयों का मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से वैज्ञानिक अध्ययन किया गया है, हा, प्रो० ग्राहम वैलैज के अध्ययन पर यह बात लागू नही होती। ऐसा कहने में कोई डर नही है कि अब तक सबसे अच्छे वर्णन पेशेवर मनोवैज्ञानिकों के द्वारा नहीं लिखे गये है, बल्कि मानव-जीवन के कुशल निरीक्षकों के द्वारा लिखे गये है, जिन्होंने इस विषय का अध्ययन दूसरे विज्ञानों के दृष्टिकोण से किया है। प्रजातंत्रीय संस्थाओं की सफलता का लोगों को जो भ्रम हो गया था उसके मिटने की अनुभूति आजकल बहुत फैली हुई है, और उनमें जो कमजोरिया अब प्रकट हो गई है वे स्वभाव से अनिवार्यतः मनोवैज्ञानिक है। उनको नीचे लिखे शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है :

१. सभी संगठनों में स्वभावतः रहनेवाली, थोड़े से लोगों का शासक बन जाने की ओर प्रवृत्ति।

२. जटिल उद्देश्यों के लिये प्रतिनिधित्व की एक पर्याप्त प्रणाली प्राप्त करने की मनोवैज्ञानिक कठिनाइया।

३. आम जनता के अज्ञान और बेवकूफी के कारण तथा मत को बिगाड़नेवाले लोगों की मौजूदगी के कारण प्रतिनिधि-प्रणाली की असफलता।

४. बड़ी-बड़ी संसदों में प्रभावपूर्ण सामूहिक विचार-विमर्श प्राप्त करने की मनोवैज्ञानिक कठिनाइया।

१. प्रतिनिधित्व की प्रणालियों के विकास के निश्चय ही अच्छे प्रावैधिक (technical) और मनोवैज्ञानिक कारण है।* सघो का इतिहास, चाहे व्यापारिक सघों का हो, राजनीतिक दलों का हो, या राज्य का, यह बताता है कि एक बड़े पैमाने पर सीधा शासन (direct government) असम्भव है। लोगो के बडे झुड जब मसले बहुत आसान होने है तब भी सुझावों को प्रभावपूर्ण तरीके से नही अपना सकते, और ममलों के जटिल होने पर तथा शीघ्र निर्णय करने के महत्त्व के बढ जाने पर तो वे बेकाबू और प्रभावहीन हो जाते है। इसके अलावा मीधे शासन के दुरुपयोग होने की अधिक सम्भावना रहती है। बडी-बडी सभाओं का निर्देशनीय होना प्रसिद्ध है और वे आन्दोलन करानेवाले और वक्ता के, अविचारशील और महत्त्वाकाक्षी लोगो के, प्रभाव मे जल्दी आ जाती है। फिर जहा सीधा शासन होता है वहा भी मभाओ के मध्यवर्ती अवकाश मे उठनेवाले मसलो को निपटाने के लिये किसी अधिकारी की जरूरत होती है, और अनुभव यह बताता है कि सच्ची ताकत जल्दी ही ऐसे अधिकारियो के हाथ मे आ जाती है। मीधे शासन की प्रावैधिक कठिनाइयो के साथ-साथ कुछ ऐसे मनोवैज्ञानिक कारण भी होते है जो नेतृत्व और प्रतिनिधित्व के पक्ष मे काम करते है। जो शक्तिया किसी असंगठित जन-समुदाय को किसी तरह का संगठन करने के लिये प्रेरित करती है वे चेतन और

---

* इस विषय पर देखिए, R. Michels, "Les Partis Politiques".

जानीबूझी नही होती, बल्कि उनकी जडें सहज-प्रवृत्तियों और अचेतन मे रहती है। बहुमख्यक लोग नेता के पीछे चलने के इच्छुक होते है और अधिकारियों की आज्ञा का पालन करने के लिये बहुत उत्सुक रहते है, जैसा कि नेताओं के प्रति व्यापक पूजा-भाव से और अधिकारी पुरुषो की आज्ञा मानने की सामान्य तत्परता से प्रमाणित होता है। इस तरह हम देखते है कि सभी समाजों मे जिनमे कुछ भी स्थायित्व होता है, नेता पैदा हो जाते है और शक्ति प्राप्त कर लेते है। सभी सगठनो मे, चाहे वे वश-परम्परागत नेतृत्व पर निर्भर हों, चाहे प्रतिनिधित्व पर आधारित नेतृत्व पर, शासन के थोडे से लोगो के हाथ में आ जाने की जबर्दस्त प्रवृत्तिया होती है, और इसका कारण एक तो शासन का प्रावैधिक स्वरूप है जिससे यहा हमारा कोई ताल्लुक नही है और दूसरा है कुछ मनोवैज्ञानिक तत्व। मनोवैज्ञानिक कारणो को तीन शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है: (क) आम जनता की उदासीनता और उपेक्षा और यह इच्छा कि कोई नेता उनको रास्ता दिखावे; (ख) नेताओ के अन्दर शक्ति की भूख; (ग) सबसे अच्छे नेताओं की भी मनोवृत्ति का अकस्मात् बदल जाना और आम जनता से उनका दूर हो जाना।

आम जनता की सुस्ती, उदासीनता और उपेक्षा शायद उनकी नेताओ का अनुसरण करने की इच्छा का ही दूसरा पहलू है। शायद यह किसी हद तक आज के नागरिक के सामने जो जटिल समस्या है उसको समझने की कठिनाई और कल्पना के अभाव की वजह से है। लेकिन केवल यही कारण नही हो सकते, क्योंकि जो अपेक्षाकृत छोटे-छोटे समाज साधारण बुद्धि की पहुँच के अन्दर आनेवाली बातों से सम्बन्ध रखते है उनके सदस्यों की एक बडी संख्या मे भी उपेक्षा दिखाई

देती है। इसका नतीजा यह होता है कि आम जनता का अपने नेताओ के ऊपर अधूरा ही नियंत्रण रहता है। इस तरह से ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाती है जो जनता के सबसे बड़े हिमायती नेताओं तक को भ्रष्टाचारी बना देती है। इसकी वजह यह है कि नेताओं को जल्दी ही यह बात मालूम हो जाती है कि यद्यपि सिद्धान्ततः उनसे अपना चुनाव करनेवालों के मतों और इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करने और उनको अभिव्यक्त करने की आशा की जाती है, फिर भी वास्तव में उन लोगों के न कोई ध्यान देने के क़ाबिल मत है न इच्छाएं। ख़ास तौर से जटिल समाजों मे, जिनके सदस्य शिक्षा और बौद्धिक विकास की दृष्टि से आपस मे बहुत भिन्नता रखते है, नेता केवल जनता का व्याख्याकार नही बना रह सकता, बल्कि उसे जनमत को बदलनेवाला होना पडता है। अनुकूल परिस्थितियो में और चुनाव करनेवालों का रुख़ सतर्क और आलोचनात्मक होने पर ये बातें सच्चे सहयोगपूर्ण विचार की सहायक होती है, लेकिन ज्यादातर मामलों में इसका नतीजा केवल इतना होता है कि जनता के नेता या प्रतिनिधि उन लोगों से जिनका प्रतिनिधित्व करने की उनसे आशा की जाती है, धीरे-धीरे लेकिन निरन्तर अधिकाधिक दूर होते जाते है, तथा यह भी कि उन नेताओं के अन्दर जनता पर शासन करने की और स्वयं अपने विचारों और योजनाओ को पूरा करने के लिये जनता को साधन बनाने की इच्छा पैदा हो जाती है। सभी दलों में सदस्यों की ज्यादा संख्या उदासीन होती है और आदत और निर्देश के वशीभूत होती है, यानी वक्ता और आन्दोलन करानेवाले की शक्ति के प्रभाव में आसानी से आ जाती है। प्रजातन्त्रीय संगठनो की एक सबसे उल्लेखनीय विशेषता है शब्दों के जादू के प्रति उनकी निर्देशनीयता, जैसा कि वक्ताओं और पत्रकारों के महत्त्व से

मालूम होता है। प्रायः नेता बनने के लिये स्पष्ट, तार्किक विचार या कथन की शक्ति ज़रूरी नहीं होती, बल्कि एक विषय से कूदकर दूसरे विषय पर पहुंचने की शक्ति, कहने का आसान और सीधा तरीका, हॅसी और व्यंग्य करने में कुशलता जरूरी है, और इन शक्तियों से सम्पन्न आदमी प्रायः अवसरवादी होते है और आसानी से जबर्दस्त स्वार्थो के साधक बन जाते है।

आम लोगों की उपेक्षा और नेता की चाह के साथ ही नेताओं के अन्दर शक्ति की कभी न बुझनेवाली प्यास भी होती है। कुछ लोगों के अन्दर शासन करने की इच्छा बड़ी गहरी और शक्तिशाली होती है। और इसमे ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात शायद यह है कि शक्ति के हाथ में आ जाने मे नेता की मनोवृत्ति में एक गहरा परिवर्तन आ जाता है। बेकुनीन (Bakunin) की दलील है कि शक्ति के हाथ मे आ जाने से आजादी का सब से बड़ा हिमायती भी जुल्म करनेवाला बन जाता है। इस कथन को तथ्यों से बार-बार समर्थन प्राप्त हुआ है। शुरू में हो सकता है कि नेता को उन सिद्धान्तों के वजन का पूरा विश्वास हो जिनकी वकालत के लिये वह खड़ा है। वास्तव में इन सिद्धान्तों के महत्त्व मे गहरा विश्वास होने के कारण और इस सम्भावना में सच्चा विश्वास होने के कारण कि वह उनकी पूर्ति में वाक़ई योगदान कर सकेगा, वह नेतृत्व ग्रहण करने के लिये प्रेरित हो सकता है। लेकिन शक्ति का स्वाद तो नशा पैदा करनेवाला होता है। इससे नेता के मन में अपने महान् होने और लोगों के लिये आवश्यक होने का भ्रम पैदा हो जाता है और फलस्वरूप एक दफ़े जिस शक्ति का स्वाद लग चुका है उसे छोड़ने की अनिच्छा पैदा हो जाती है। यह ध्यान देने की बात है कि शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षा प्रायः मज़दूर-वर्ग से आनेवाले नेताओं

के अन्दर सबसे ज्यादा तीव्र रूप में प्रकट होती है। वे आम तौर पर झक्की और स्वेच्छाचारी होते हैं तथा गरीबी से एकाएक उठकर बड़ा आदमी बन जानेवाले व्यक्ति के सभी लक्षण उनमे दिखाई देते हैं। जिस आदमी ने अपनी मेहनत से ऊंचा पद पाया है वह प्रायः घमन्डी और खुशामद से जल्दी प्रभावित हो जाता है। सभी देशो मे समाजवाद के इतिहास मे हमे ऐसे लोग मिलते हैं जिनमे अर्ध-शिक्षितों का अहकार और एकाएक बड़प्पन पा जानेवाले का गंवारपन होता है, और विधान-सभाओं के समाजवादी दलों में प्रायः मज़दूर-वर्ग से आने वाले लोग होते हैं जो अनजाने "बुर्जुआ" (पूजीपति) वातावरण के शक्तिशाली प्रभाव मे आ जाते हैं और अन्त में "शत्रु" से जा मिलते हैं। इस बात के पक्षमें काफी दलीलें भी हैं कि जो नेता अपने सच्चे प्रतिनिधि होने में वाक़ई विश्वास करते हैं वे दूसरों की अपेक्षा जल्दी स्वेच्छाचारी हो जाते हैं। इसकी वजह यह है कि उनमें सुधार करने का बड़ा भारी उत्साह और शक्तिशाली सरकार बनाने की ऐसी उत्कट इच्छा हो सकती है जो दूसरो मे उतने उल्लेखनीय रूप में न हो।

इस प्रकार आम जनता की अयोग्यता, उसकी उपेक्षा और उदासीनता, उसकी नेतृत्व की चाह और अधिकारियों के प्रति उसकी पूजा की भावना, और साथ ही नेताओं के अन्दर शक्ति और शासन की इच्छा, ये वे कारण है जो सभी प्रजातंत्रीय सम्प्रदायों में थोड़े से लोगों के शासन को ले आते है। यह सवाल उठाया जा सकता है कि यह प्रवृत्ति प्रजातत्र मे स्वभावतः रहती है या केवल इस तरह से पाई जाती है कि आजकल सरकार और चुनाव शक्तिशाली आर्थिक स्वार्थों के द्वारा बहुत नियंत्रित रहते है। माइकेल्स (Michels) ने यह दिखा दिया है कि सब समाजवादी दलों में भी यही कारण काम करते है और कहा

है कि सगठन कही भी हो उसमे यह प्रवृति हमेशा रहेगी। दूसरी ओर सिन्डिकलिस्ट (Syndicalist, शक्ति प्राप्त करने के लिये आम हडताल को साधन माननेवाले मजदूरों के एक दल के लोग) और मार्क्सवादी यह मानते हुए प्रतीत होते है कि सच्चा स्वायत्त शासन "क्रान्ति" के बाद ही सम्भव होगा। इस विश्वास का कोई उचित आधार मिलना मुश्किल है। जहा शासन-सत्ता केन्द्र मे रहेगी वहा थोडे मे लोगो के शासक बन जाने की प्रवृत्ति अवश्य ही रहेगी। कहा गया है कि राज्य का धीरे-धीरे नाश हो जायगा। लेकिन उसका स्थान क्या लेगा? निश्चय ही तब या तो अफसरों की विशाल हुकूमत रहेगी या किसी प्रकार का प्रतिनिधित्व रहेगा। लेकिन उस हालत मे एक नये प्रभावशाली अल्पसंख्यकों के वर्ग का पैदा होना निश्चित है। क्या यह सम्भावना नही हो सकती कि सामाजिक क्रान्ति के बाद तत्कालीन शासक-वर्ग के स्थान पर चुपचाप समानता लाने के बहाने काम करने वाले थोडे से आन्दोलन करानेवालों का शासन हो जायगा? फिर यह स्वीकार किया गया है कि बीच की अवस्था तानाशाही (dictatorship) की रहेगी जिसमे शासन अल्पसंख्यकों के हाथ मे रहेगा। लेकिन क्या ये अल्पसंख्यक एक बार पूरे शासन के अपने हाथ मे आ जाने के बाद शक्ति को त्यागने के लिये तैयार हो जायेगे? यह भी सम्भावना है कि ऊपर जिन मनोवैज्ञानिक परिवर्तनों का उल्लेख किया गया है वे भी तानाशाहों की मनोवृत्ति में आ जायेगे। रूसी क्रान्ति के उदाहरण मे इस बात का समर्थन होता है। "यह बहाना करना बिल्कुल वाहियात है कि सोवियट रूस जैसे महान् साम्राज्य के शासक शक्ति-अभ्यस्त हो जाने के बाद भी जन-साधारण की मनोवृत्ति रखते है और यह महसूस करते है कि उनके अपने वर्ग का स्वार्थ वही है जो

साधारण मजदूर का है। रूस में अब यह बात नहीं रही, चाहे सत्य को लच्छेदार वाक्यों से छिपाने की कितनी ही कोशिश की जाय। वहां की सरकार के अन्दर एक वर्ग-चेतना है और एक वर्गगत स्वार्थ है जो जन-साधारण के स्वार्थ से बिल्कुल भिन्न है, और यह जन-साधारण मार्क्स-वादी योजना के कागजी जन-साधारण से बिल्कुल अलग समझा जाना चाहिए।" *

२. दूसरी आलोचना कार्यों के अनुसार प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त से सम्बन्धित है, खास तौर से इस सिद्धान्त के उस रूप से जो जी० डी० एच० कोल (G. D. H. Cole) ने पेश किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार यह असम्भव है कि कोई एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों की सम्पूर्ण इच्छा और व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व कर सके, हालांकि यह सम्भव है, बल्कि वास्तव में वाच्छनीय है कि विशिष्ट उद्देश्यों का प्रतिनिधित्व कुछ लोग करें। व्यक्ति चेतना और इच्छा का एक केन्द्र होता है जिसको हूबहू जान सकना और स्थानान्तरित कर सकना सम्भव नही है, तथा व्यक्ति को आत्म-निर्णय (self-determination) का अधिकार प्राप्त रहता है जिसको वह कभी नही छोड़ता। जो संघ एक विशेष चीज को अपना लक्ष्य बनाते है उनमें प्रतिनिधित्व का मतलब उनके सदस्यों के व्यक्तित्व की हानि नही होता, लेकिन प्रतिनिधियों की एक ऐसी सरकार जो इस विचार पर आधारित हो कि व्यक्तियों का उनके समग्र रूप में प्रतिनिधित्व किया जा सकता है, न केवल व्यक्तिगत हित के लिये विनाशकारक है बल्कि व्यवहार में असम्भव भी है। "जिस मात्रा मे उन उद्देश्यों की स्पष्टता और निश्चितता नष्ट होती है जिनके लिये

---

* "Theory and Practice of Bolshevism", पृ० १५५।

प्रतिनिधि का चुनाव किया गया है, उसी मात्रा में प्रतिनिधित्व ग़लत प्रतिनिधित्व हो जाता है और संघ के कार्यों की प्रतिनिधानात्मकता लुप्त हो जाती है। इस प्रकार का गलत प्रतिनिधित्व अपने सबसे ख़राब रूप में आजकल पार्लियामेन्ट में, जिसके सर्व-समर्थ 'प्रतिनिधानात्मकता' संघ होने का दावा किया जाता है, तथा कैबिनेट (cabinet) में, जिसे पार्लियामेन्ट के ऊपर निर्भर माना जाता है, दिखाई देता है। पार्लियामेन्ट यह दावा करती है कि वह सभी नागरिकों की सभी बातों में प्रतिनिधि है, और इसलिए वह नियमानुसार किसी का भी किसी बात में प्रतिनिधित्व नहीं करती। इसको कोई भी समस्या जो सामने आवे उसे हल करने के लिए चुना जाता है और इस बात को भुला दिया जाता है कि जो समस्याएं वाकई सामने आती है उनको हल करने के लिये अलग-अलग क़िस्म के व्यक्तियों की जरूरत होती है। इसलिए इस पर बिगाड़नेवाले प्रभावों, खास तौर से धनवान्-वर्ग के प्रभावों, का जल्दी असर हो जाता है और यह हरेक बात ख़राब करती है क्योंकि कोई अच्छी बात करने के लिये इसे चुना ही नहीं गया है।"*

३. पार्लियामेन्ट जैसे संघ में जिन मसलों पर विचार किया जाता है उनकी जटिलता न केवल इस बात के लिये ज़िम्मेदार है कि एक बार चुन लिये जाने पर सदस्य अपना चुनाव करनेवालों का ग़लत प्रतिनिधित्व करते हैं, बल्कि किसी हद तक चुनावों के सही रास्ते से भ्रष्ट हो जाने के लिये भी। बहुत कुछ इस जटिलता के कारण प्रेरक इतने उलझ जाते हैं और स्वार्थों में इतना गड़बड़ हो जाता है कि सच्चा प्रतिनिधित्व असम्भव हो जाता है और चुने हुए लोगों की सफलता बहुत

---

* "Social Theory", पृ० १०८।

कुछ एक या अधिक प्रधान मसलों की बदौलत होती है जिनके अन्दर संवेगों और सहज-प्रवृत्तियों को उभारने की शक्ति होती है। ज्यादेतर दृष्टान्तों में यह कहना बिल्कुल अनुचित होता है कि प्रतिनिधि सामान्य-कृति को अभिव्यक्त करता है, क्योंकि जो प्रेरक चुनाव करनेवालों को प्रेरित करते हैं वे बहुत मिले-जुले, भिन्न और यहां तक कि परस्पर विरोधी भी होते हैं। इन कठिनाइयों के साथ आम लोगों की राजनीतिक अज्ञता और उनकी बेवकूफ़ी को तथा निर्देश को बार-बार दोहरा कर उसकी शक्ति को बढ़ाने के अत्यधिक विकसित साधनों के अस्तित्व को भी जोड़ दीजिए, तब चुनावों के अनियमित होने की बात आपकी समझ में आ जायगी। एच० जी० वेल्स (H. G. Wells) ने कहा है, "ग्रेट ब्रिटेन में अब लोगों को चुना नहीं जाता, बल्कि रद्द किया जाता है। किसी आम चुनाव में होता असल में यह है कि दल का संगठन गुप्त सभाओं में क़रीब बारह सौ आदमियों को हमारे शासक नियुक्त करता है, और हम तथाकथित अपना शासन आप करनेवाले लोगों को केवल इतनी इजाज़त है कि हम उलझे-उलझे तरीक़े से जोश में इन चुने हुए महानुभावों में से आधों के नाम काट देते है।"*

४. अन्त में बड़ी सभाओं की कार्यवाहियों में मनोवैज्ञानिक दिक्क़तें होती है जो प्रभावपूर्ण सामूहिक विचार-विमर्श को असम्भव कर देती है और इसका नतीजा यह होता है कि सबसे ज्यादा प्रजातंत्रीय सरकारों तक में वास्तविक शक्ति बहुत थोड़े लोगों के हाथ में केन्द्रित हो जाती है। इस प्रसंग में डा० मैकडूगल की पार्लियामेन्ट की प्रशंसा की प्रो० ग्रैहम

---

* Lippmann, "Preface to Politics," पृ० २९१ पर उद्धृत।

वैलेज़, औस्ट्रोगोर्स्की (Ostrogorsky) या एच० जी० वेल्स जैसे राजनीतिक जीवन के सूक्ष्म निरीक्षकों के मतों से तुलना करना बड़ा रोचक होगा। डा० मैकडूगल पार्लियामेन्ट की कार्य-विधि को सच्चे सामूहिक विचार-विमर्श और कृति का उदाहरण मानते हैं। उसमें जो प्रतिनिधि होते हैं वे ऐसे लोग होते हैं "जिनमें प्रथा और परम्परा ने प्राकृतिक नेताओं को यानी सबसे योग्य लोगों को, तथा उनको जिनकी चेतना में राष्ट्र भूत, वर्तमान और भविष्य में सबसे अच्छे तरीके से प्रतिबिम्बित होता है, प्राथमिकता दी है।" इसके अलावा प्रचलित दलबन्दी और समाचार-पत्रों से "सभी प्रस्तावों की, वाद-विवादों के नियंत्रण के लिये जिन परम्परागत विधियों का विकास हुआ है उनसे ज़ोरदार आलोचना और उनके ऊपर पूरे वाद-विवाद"* का आश्वासन मिलता है। इस मत पर आश्चर्य होता है और यह जिज्ञासा होती है कि यह मनोवैज्ञानिक निरीक्षण के ऊपर आधारित है या आम राजनीतिक मान्यताओं और पक्षपात पर। प्रो० ग्रैहम वलैज़ और इंगलैंड और इंगलैंड के बाहर के अन्य निरीक्षक पार्लियामेन्ट की प्रत्यक्ष कार्यवाहियों की नितान्त व्यर्थता से, वहां पर जिस बौद्धिक शिथिलता का प्राधान्य रहता है उससे तथा किसी भी सच्चे तरीक़े से संगठित वाद-विवाद के अभाव से प्रभावित हुए हैं, और उनका निर्णय मैकडूगल के मत से बिल्कुल उल्टा पड़ता है। हां, अगर राष्ट्रीय विचार-विमर्श और राष्ट्रीय कृति से मतलब उन लोगों के विचार-विमर्श और कृति से है जिनमें "राष्ट्र का विचार" सबसे उत्तम तरीक़े से प्रतिबिम्बित होता है और अगर "सर्वोत्तम लोग" ही स्वयं यह निर्णय करते है कि वे राष्ट्र के विचार को सबसे उत्तम रीति से प्रति-

* "The Group Mind" पृ० १९०।

बिम्बित करते हैं, तब निस्सन्देह डा० मैकडूगल का मत ठीक है। लेकिन "राष्ट्र का विचार" यह वाक्यांश बहुत ही अस्पष्ट है और राष्ट्रीय हित का मतलब व्यवहार में प्रायः राष्ट्र के "सर्वोत्तम," वर्ग का हित होता है। पार्लियामेन्ट के वाद-विवादों में जो अनेक बार विचार के सच्चे समन्वय का अभाव पाया जाता है और ऊंची विद्वत्तापूर्ण आलोचना के प्रति जो उदासीनता पाई जाती है, उससे बाहर के निरीक्षकों को आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। लेकिन, सच्चे सामूहिक निर्णय के इस अभाव का कारण केवल यह नहीं है कि वर्गगत स्वार्थों की जीत हो जाती है और सार्वजनिक इच्छा को, जहां तक उसको जाना जा सकता है, विकृत कर दिया जाता है, बल्कि यह है कि निरन्तर बढ़ती हुई जटिलता रखनेवाले विषयों पर विचार करनेवाली बड़ी-बड़ी समितियों में सामूहिक विमर्श करने में वस्तुतः मनोवैज्ञानिक कठिनाइयां होती हैं। इन मनोवैज्ञानिक कठिनाइयों को सुलझाने में खास तौर से मनोवैज्ञानिकों की मदद मिल सकती है। ऊपर के निवेचन से जो आम निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि अगर पुनर्निर्माण की किसी राजनीति को वास्तव में लाभदायक बनाना है, तो उसका लक्ष्य विकेन्द्रीकरण और श्रम का विभाजन होना चाहिए, ताकि किसी संसद में जिन मसलों पर विचार किया जाता है वे ज्यादा निश्चित, कम जटिल और प्रतिनिधित्व की प्रणाली के ज्यादा अनुकूल बनें, और सबसे ज्यादा वांछनीय यह है कि उस राजनीति का लक्ष्य राष्ट्र को ज्यादा शिक्षित, कम उदासीन, कम निर्देशनीय, ऊपर से लादे हुए शासन के प्रति कम उत्तरदायी, स्वतंत्र और निडर होकर विचार करने में ज्यादा समर्थ तथा ज्यादा व्यापक स्वार्थों को सामने रखकर काम करने में समर्थ बनाना होना चाहिए।

निष्कर्ष

अन्त में, अब तक जो कुछ कहा गया है उसकी कुछ प्रमुख बातो पर ज़ोर देना ठीक रहेगा। सबसे पहिले हमने यह कहा था कि समाज को ऐसे व्यक्तियों का एक जाल समझना चाहिए जो आपस में अनगिनत तरीक़ों से सम्बन्धित होते हैं और ऐसी एकताओं या समष्टियों का निर्माण करते है जो स्वभाव और जटिलता की दृष्टि से परस्पर बहुत भिन्न होती हैं। व्यक्तियों के बीच होनेवाले कुछ सम्बन्धों को संगठन के अन्दर लाया जा सकता है और इस तरह से वे संघों और संस्थाओं के आधार बनते हैं, कुछ सम्बन्ध ऐसे होते हैं कि अत्यधिक सूक्ष्म, व्यक्तिगत और कोमल होने की वजह से वे संगठन के अन्दर नही लाये जा सकते, और कुछ ऐसे भी होते हैं जो इतने अस्पष्ट होते हैं कि साफ़-साफ़ शब्दों में नहीं बताये जा सकते, फिर भी जो अंशत: सार्वजनिक आन्दोलनों या प्रवृत्तियों में, जनमत इत्यादि में अभिव्यक्ति पाते हैं। ये सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक होते हैं अर्थात् ये आवेगों, विचारों और उद्देश्यों पर निर्भर होते हैं। लेकिन व्यक्तियों के सम्बन्ध से जिस समष्टि का निर्माण होता है उसको आदमी के शरीर या मन की तरह एक शरीर या मन मानना न तो ठीक ही है और न उपयोगी। समाज में व्यक्तियों के मध्य जो सम्बन्ध होते हैं वे सचमुच बहुत ही निकट और घनिष्ठ होते हैं। जैसे

क प्रो० मैकइवर ने हाल ही में बड़ा ज़ोर देकर कहा है, सामाजिकता और वैयक्तिकता एक ही प्रक्रिया के अर्थात् व्यक्तित्व के विकास के दो पहलू मात्र है। फिर भी एक व्यक्ति अन्यों से एक बिल्कुल भिन्न केन्द्र होता है, अपने एक अकेली इकाई होने का ज्ञान रखता है, जिन विभिन्न सामाजिक समष्टियों का वह सदस्य होता है उनसे अलग-अलग क़िस्म के सम्बन्ध रखता है, और उसका स्वभाव इन समष्टियों की सदस्यता में समाप्त नही हो जाता। फिर, यह भी सही है कि इन समष्टियों में एक तरह की एकता होती है, बल्कि उनके अन्दर हम एकता की दिशा में प्रयत्न ढूंढ़ सकते है। लेकिन यहां दो बातें ध्यान देने के क़ाबिल है, एक यह कि एकता की जो मात्रा वस्तुतः उनको प्राप्त होती है उसको बढ़ाकर नहीं दिखाना चाहिए और दूसरी यह कि अगर उनमें सच्ची एकता है तो वह उद्देश्यों की, विचारों और आदर्शों की, आध्यात्मिक अन्तर्वस्तु की एकता है; उनमें प्रक्रिया की वह एकता और द्रव्य की वह अविच्छिन्नता नहीं होती जो कि व्यक्ति के मन के अन्दर होती है।

दूसरी चीज़ जो हमारे ध्यान में आई है वह है तर्क के ख़िलाफ़ एक बहुत ही व्यापक प्रतिक्रिया, बल्कि एक तरह से अबौद्धिक की पूजा। इस तर्क-विरोधी आन्दोलन का कारण एक बहुत बड़ी सीमा तक तर्क के स्वरूप के बारे में वह मत है जो तर्क को तुलना करने और सम्बन्ध दिखानेवाली एक रूखी बौद्धिक शक्ति मानता है, साथ ही इसका कारण तर्क और आवेग को ग़लती से एक-दूसरे से अलग मानना भी है। फिर भी यह याद रखना चाहिए कि इस तर्क-विरोधी आन्दोलन का बल इस बात के कारण है कि तर्कवादियों ने प्रायः जिन चीज़ों की उपेक्षा की थी उनको इसने महत्त्व दिया है, और कि तर्क-विरोधियों में जो अनावश्यक पृथक्करण के दोष हैं वे हूबहू वही हैं जो तर्कवादियों में हैं। हमने जिस

दृष्टिकोण को उचित बताया है वह यह है कि सामाजिक संस्थाओं में निश्चय ही तर्क और प्रयोजन के तत्व रहते हैं। ये संस्थाएं एकतापूर्ण जीवन के प्रयोग हैं और इनके द्वारा मनुष्य-जाति सामंजस्यपूर्ण विकास के हेतुओं को ढूंढ़ने की, कम या ज्यादा समझदारी की और समन्वयपूर्ण कोशिशें करती है। लेकिन ज्यादेतर संस्थाएं प्रयत्न और भूल की आरम्भिक अवस्था से आगे नहीं बढ़ पाई हैं और निश्चय ही वे उद्देश्यों के संगठन को प्रकट करनेवाली साफ़-साफ़ सोची हुई जीवन की योजनाओं पर आधारित नहीं हैं। फिर भी इससे यह मतलब नहीं निकलता कि तर्क का हिस्सा कोई महत्त्व नहीं रखता। इसके विपरीत, अगर तर्क से हमारा मतलब उस तत्व से हो जो आवेगों के अन्दर और आवेगों के द्वारा काम करता है और उनमें लक्ष्य और दिशा की एकता पैदा करता है, तब तर्क को सारी सामाजिक प्रक्रिया का प्राण मानना पड़ेगा। कुछ भी हो, हमारी व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि हमें रहस्यमय आवेगों पर आंख मूंद कर निर्भर रहने की, कम तर्क की ज़रूरत नहीं है, बल्कि ज़रूरत है अधिक तर्क की, ज्यादा समझदारी की, उन परिस्थितियों को समझने की जिनसे आवेगों से सहयोगपूर्ण काम लिया जा सके, ताकि समाज के अन्दर व्यक्तित्व का सामंजस्यपूर्ण विकास हो सके।

अशुद्धि-पत्र

खेद है कि सावधानी रखने के बावजूद भी पुस्तक मे कुछ अशुद्धिया रह गई हैं। पाठकों से प्रार्थना है कि पुस्तक पढ़ने से पहिले इस पत्र के अनुसार उनको ठीक कर लें।

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
चिचार	विचार	८	ऊपर से ५
सहज-प्रवृत्ति	सहज-प्रवृत्ति,	१०	,, ६
मतों	मनों	११	,, ७
इंस्टिक्ट्स् इन...... ... . काम का	के ग्रन्थ "इंस्टिक्ट्स् इन इन्डस्ट्री" (Instincts in Industry) का	१२	,, ८
प्रवृत्ति मूलक	प्रवृत्ति-मूलक	१३	,, ९
लेख के	लेखक	१३	,, १०
वंश परम्परागत	वंश-परम्परागत	१६	नीचे से २
बुद्धिमत्ता पूर्वक	बुद्धिमत्तापूर्वक	२१	,, ३
अनुभूति	अनुभूत	३०	ऊपर से २
गयात्मक	गत्यात्मक	५४	,, ७
विरुद्ध	निरुद्ध	५९	,, १
ह्	है	५९	,, १०
उसके	उसने	६०	नीचे से ७

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
निगमन	निष्कर्ष	६५	नीचे से ६
कृति	(कृति)	६५	,, ५
समह	समूह	७१	,, १
जिसकी	उसकी	७७	,, २
की उसके	की, उसके	८०	,, ४
है	हैं	८२	ऊपर से ९
तात्विक	वास्तविक	८५	नीचे से ११
वास्तविक	व्यावहारिक	८५	,, ९
वस्तुओं	अन्तर्वस्तुओं	८८	,, ५
"दौर"	"दौरे"	९४	,, ५
सत्ता	सत्ता,	९५	ऊपर से २
है।	है,	१०३	नीचे से ३
उनका	उसका	१०७	ऊपर से ६
तृतीय	तृतीय,	११७	,, ७
महत्त्वपूण	महत्त्वपूण	११८	,, १४
है	हैं	१२१	,, ९
संवेदन	संवेदना	१२५	ऊपर से १४
की	कि	१४२	,, ७
में	में कि	१४४	,, १४
हर	एक	१४४	,, १६
जींवनयापन	जीवन यापन	१४९	नीचे से ३
अन्तर्राट्रीय	अन्तर्राष्ट्रीय	१५८	ऊपर से १०

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
*	†	१६०	अन्तिम पंक्ति
छिन्न मूल	छिन्न-मूल	१६४	नीचे से १०
है वे	है, वे	१६८	ऊपर से १३
अनसार	अनुसार	१७०	अन्तिम पंक्ति
मनष्य	मनुष्य	१७२	ऊपर से ७
युक्तयाभासों	युक्त्याभासों	१७३	" ८
(Savignyc)	(Savigny)	१७५	नीचे से ४
की	कि	१७७	प्रथम पंक्ति
को	की	१७७	नीचे से १०
आनुषांगिक	आनुषंगिक	१८४	अन्तिम पंक्ति
में	में,	१८८	ऊपर से ८
वाले,	वाले	१८८	" २०
संख्याएं	संस्थाएं	१९०	" १
आदमियों को	आदमियों की	१९१	" ९
देना	देता	१९३	नीचे से ७
तैलैज़	वैलैज़	१९५	ऊपर से ७
लु बां	लु बों	१९५	" १२
लोक-समुदाय	जनता	१९५	नीचे से २
लु बां	लु बों	१९६	ऊपर से ३
समह	समूह	१९६	" ७
सड़ता	सरता	१९९	" १
या	था	२००	" ८

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
लु बा	लु बो	२०२	ऊपर से १
लु बां	लु बों	२०४	,, २
आत्माविश्वाम	आत्मविश्वास	२०४	,, ११
बठने	बैठने	२०४	,, २१
लू बा	लु बो	२०४	अन्तिम पंक्ति
लु बा	लु बो	२०५	ऊपर से ७
व्यक्यिो	व्यक्तियो	२०७	,, १
तर्क	तर्क और	२१८	,, ३
वैसी	वैसा	२१९	,, २
बाते	बातो	२२०	,, २
दूर दर्शितापूर्ण	दूरदर्शिता-पूर्ण	२२०	,, १०
किस्म का	किस्म का,	२२१	,, ४
अल्पसंख्यको का	अलपसख्यको को	२२२	अतिम पंक्ति
पहुचाती है	पहुचाती है,	२२९	ऊपर से ९
देती।	देती है	२३०	,, १
ग्राहम	ग्रैहम	२३३	,, ६
प्रावैधिक	प्राविधिक	२३४	,, ४
प्रावैधिक	प्राविधिक	२३४	,, १८
प्रावैधिक	प्राविधिक	२३५	,, ११
तरह	वजह	२३८	नीचे से ४
शक्ति-अभ्यस्त	शक्ति के अभ्यस्त	२३९	,, २

ग्रन्थ-सूची

INTRODUCTION

Davis, M. M. . . Psychological Interpretations of Society
McDougall, W. . . Introduction to Social Psychology.
Sganzini, Carlo. . Die Vortschritte der Volkerpsychologie Von Lazarus bis Wundt.
Hurwicz, Elias. . Die Seelen der Volker.
Ellwood. . Introduction to Social Psychology.

CHAPTER I

Hobhouse, L. T. . . Mind in Evolution.
McDougall, W. . . Introduction to Social Psychology.
Shand, A. F. . . Foundations of Character.
Symposium on Instinct and Emotion, Proceedings of the Aristotelian Society, 1914. . 15.
Lloyd Morgan, C. . . Instinct and Experience.
Woodworth, R. S. . Dynamic Psychology.

CHAPTER II

McDougall, W. . . Introduction to Social Psychology.
Trotter, W. . . Instincts of the Herd in Peace and War.
Bagehot. . Physics and Politics.
Davis, M. M. . . Psychological Interpretations of Society.
Tarde. . The Laws of Imitation.
Tarde. . Social Laws.
Ross. . Social Psychology.
Ellwood. . Introduction to Social Psychology.
Hart, B. . . The Methods of Psycho-Therapy, Proc. of the Royal Society of Medicine, Vol. XII, 1918.
Prideaux, E. . . Suggestion and Suggestibility, Journal of the British Psychological Society, March, 1920.

CHAPTER III

Hobhouse, L. T. . . Mind in Evolution.
Hobhouse, L. T. . . Development and Purpose.
Stout, G. F. . . Manual of Psychology.
Hetherington & Muirhead. . Social Purpose.

CHAPTERS IV AND V

McDougall, W. . . The Group Mind.

Bosanquet, B...The Philosophical Theory of the State.
Hobhouse, L.T...The Metaphysical Theory of the State.
Durkheim, E...Les formes elementaires de la vie religieuse.
Durkheim, E...Representations individuelles et representations collectives. Revue de Metaphysique et de Morale, VI, 1898.
Gehlke, E...E. Durkheim's Contribution to Sociological Theory.

CHAPTER VI

Herbert, S...Nationality and its Problems.
Steinmetz, R...Der erbliche Rassen..und Volks-charakter Viertel. fur wissen Phil. und Soziologie, 1902.
Fouillee..Esquisse psychologique des peuples europeens.

CHAPTER VII

Wundt, W...Facts of the Moral Life.
Ross, E.A...Social Control.
Vinogradoff, Prof. P..Common Sense in Law.
Korkunov..Theory of Law.
Westermarck, E...Origin and Development of Moral Ideas.

CHAPTER VIII

Maciver, R.M...Community.
Cole, G.D.H...Social Theory.
Hetherington & Muirhead..Social Purpose.
Hobhouse, L.T...Metaphysical Theory of the State.
Russell, B...Principles of Social Reconstruction.

CHAPTER IX

Conway, Sir Martin..The Crowd in Peace and War.
Le Bon..The Crowd.
Graham Wallas..The Great Society.
Ross, E.A...Social Psychology.

CHAPTER X

Ross, E.A...Social Psychology.
Ross, E.A...Social Control.
Lowell, A.L...Public Opinion and Popular Government.
Dicey, A.V. Law and Opinion in England.
Sheppard, W.J...American Journal of Sociology, Vol. XV.

CHAPTER XI

Michels...Political Parties.
Cole, G.D.H...Social Theory.
Lippmann, W...Preface to Politics.

शब्द-कोष

Abstraction पृथक्करण
Achievement उपलब्धि
Actual will व्यावहारिक कृति
Adaptation समनुकूलन
Adaptibility समायोजन-शीलता
Advertisement विज्ञापन
Affective भावात्मक
Aggregate संघात
Altruism परार्थमूलक व्यवहार
Altruistic परार्थमूलक
Anthropologist मानव-शास्त्री
Appetite क्षुधा
Aristocracy कुलीनतंत्र
Association संघ
Association of ideas विचार-सम्बन्ध
Associationist विचार-सम्बन्ध-वादी, साहचर्यवादी
Assumption मान्यता
Autocracy एकतंत्र
Biological जैविक
Causality कारणता
Cell कोशा
Characterology लक्षण-विज्ञान
Class वर्ग
Compensation क्षतिपूरण
Compound मिश्र, मिश्रण
Combat युयुत्सा
Complex संवेगात्मक ग्रन्थि
Community संप्रदाय
Coherence संवाद, संगति
Cohesion संलाग
Collective सामूहिक
Collective consciousness सामूहिक चेतना
Cognitive ज्ञानात्मक
Conation चेष्टा
Conative चेष्टात्मक
Conscience अन्तःकरण
Conservative factor रूढ़ि का रक्षक तत्व
Conservatism रूढ़िवाद, रूढ़िवादिता
Conclusion निष्कर्ष
Continuity अविच्छिन्नता
Content अन्तर्वस्तु

Concept, Conception प्रत्यय, धारणा
Confluence संगम
Conflict द्वन्द्व
Concrete Universal मूर्त सामान्य
Concentric एककेन्द्रीय
Constitution विधान
Craving ईहा
Craniometry कपालमिति
Crowd भीड़
Curiosity जिज्ञासा
Custom प्रथा, रिवाज

Differential विभेदमूलक
Displacement स्थानान्तरण
Disgust अरुचि
Dogma रूढ़ विश्वास
Data सामग्री
Distribution वितरण
Decentralization विकेन्द्रीकरण

Empirical अनुभवमूलक
Ethnology नृजाति-विज्ञान
Emotion संवेग
Escape पलायन
Elation उल्लास
Elements तत्व, घटक
Efficient force कार्यकारी शक्ति
Esprit de corps दल की भावना

Folk Psychology लोक-मनोविज्ञान
Fluctuation विचलन

Generalization सामान्योक्ति, सामान्य कथन, सामान्यीकरण
Genetic उत्पत्तिविषयक
Genetic method जनन-विधि
Gregarious instinct यूथ-वृत्ति, यूथचारिता
Good हित
Group Mind समष्टि-मन
General will सामान्य कृति

Heredity वंशानुक्रम
Hereditary endowment पैतृक देन
Herd-suggestion यूथ-निर्देश
Hypostalization वास्तवीकरण
Hypothesis परिकल्पना

Instinct सहज-क्रिया, सहज-प्रवृत्ति

Intelligence बुद्धि
Impulse आवेग
Impulsive आवेगयुक्त
Impression संस्कार
Intellectualism बुद्धि-परतावाद
Institution संस्था
Imitation अनुकरण
Inductive आगमनात्मक
Idealist अध्यात्मवादी
Image प्रतिमा
Individualism व्यक्तिवाद
Impersonal निर्वैयक्तिक

Kinaesthetic sensation गति-संवेदना

Motive प्रेरक
Moral नैतिक
Morality नैतिकता
Moral indignation नैतिक रोष
Mental induction मानसिक संक्रमण
Moi commun सामान्य आत्मा
Mind-stuff theory मनोद्रव्य का सिद्धान्त
Mythology पुराण
Moral obligation नैतिक बाध्यता
Mean मध्यमान
Mutation आकस्मिक परिवर्तन
Mob अशान्त भीड़
Minority अल्पसंख्यक
Majority बहुसंख्यक
Mass suggestion सामूहिक निर्देश

Nation राष्ट्र
Nationality राष्ट्रीयता
Notion प्रत्यय
Norm आदर्श, प्रतिमान
Normative आदर्शमूलक

Opposition विरोध
Organization संगठन
Organism शरीर
Objective व्यक्ति-निरपेक्ष
Organic theory शारीरिक सिद्धान्त
Obligation बाध्यता
Over-individual अति-वैयक्तिक

Projection प्रक्षेपण
Protoplasm आद्यरस
Purposiveness प्रयोजनता

Primary emotion मूल संवेग
Prime-mover मूल-प्रेरक
Premises आधार-वाक्य
Process प्रक्रिया
Presentation संवेदना
Popular mind जन-मनस्
Public जनता
Public opinion जनमत
Public decision लोक-निर्णय
Psychical मानसिक
Propaganda प्रचार

Race जाति
Reason तर्क
Repression दमन
Rationalization युक्तयाभास, यौक्तिकीकरण
Reflex प्रतिक्षेप
Repulsion विकर्षण
Receptivity ग्रहणशीलता
Repetition पुनरावृत्ति
Rational impulse तर्क का आवेग
Resistance प्रतिरोध
Representation विचार, प्रतिनिधित्व
Real will वास्तविक कृति

Stimulus उत्तेजना
Symbolism प्रतीक
Structure गठन
Stage भूमिका
Submission आत्म-लाघव, आज्ञाकारिता
Self-assertion आत्म-गौरव, आत्म-प्रदर्शन
Sympathy सहानुभूति
Suggestion निर्देश
Suggestibility निर्देशनीयता, निर्देशग्राहिता, निर्देशग्रहणशीलता
Self-regarding sentiment आत्म-सम्मान की भावना
Sentiment भावना
Sex काम
Sublimation उदात्तीकरण
Sympathetic induction सहानुभूतिपूर्ण संक्रमण
Social Philosophy सामाजिक दर्शन
Social or Group mind सामाजिक या सामूहिक मन
Substantive Unity द्रव्य की एकता
Sensation सवेदना

Super-individual अति-वैयक्तिक
Super-mind महामनस्
Social élite समाज का श्रेष्ठ वर्ग
System समष्टि
Standing will स्थायी कृति
Social universal सामाजिक सामान्य
Somatic शारीरिक
Society समाज
Self-determination आत्म-निर्णय

Tender emotion वात्सल्य का संवेग
Tradition परम्परा
Tribe क़बीला
Technical प्राविधिक

Utilitarianism उपयोगिता-वाद
Undulation लहराना
Unconscious अचेतन
Universal सार्वभौम, सार्वत्रिक, सामान्य
Universal Mind विश्व का मन
Usage प्रचलन

Volksgeist लोक-आत्मा
Völkerpsychologie लोक-मनोविज्ञान
Values मूल्य

Will कृति
Whole समष्टि

अनुक्रमणिका